मेरी असफलताएँ

लेखक
गुलाबराय एम० ए०

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

प्रकाशक
महेन्द्र, सञ्चालक
साहित्य-रत्न-भण्डार,
सिविल-लाइन्स, आगरा ।

जनवरी १९५२
प्रथम संस्करण, १०००
मूल्य १)

मुद्रक
साहित्य-प्रेस,
सिविल-लाइन्स, आगरा ।

कृतज्ञता-प्रकाशन

ये लेख सुधा, वीणा, हंस, कहानी, विशाल-भारत, समाज-सेवक, नोंक-झोंक में छप चुके हैं। उनके सम्पादकों का मैं आभारी हूँ।

—लेखक

दो शब्द—बकलम खुद

यह युग साम्यवाद का है। व्यावहारिक रूप से तो नहीं, सैद्धान्तिक रूप से अवश्य गङ्गा तेली राजा भोज की बराबरी कर सकता है। इसी समता-भाव के कारण, समाज के अभिशाप गिने जाने वाले दीन-दलित, पतित और लांच्छित, अस्थिपञ्जरा-वशेष, जरा-जर्जरित, वैभव-विहीन मनुष्य भी आधुनिक काव्य के आलम्बन बनते हैं। यदि मुझ जैसा कोई 'मति अति रङ्क, मनोरथ राऊ' व्यक्ति बिना किसी साधना और योग्यता के महात्मा गान्धी, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर या राय बहादुर डाक्टर श्यामसुन्दरजी की भाँति आत्मकथा का नायक बन कर अपने को पाँचवाँ सवार गिने जाने की स्पर्धा करे तो सहृदय पाठकगण उसको युग की प्रवृत्ति का शिकार समझ दया और उदारता के साथ क्षमा करेंगे।

मेरे पास ख्यातनामा महापुरुषो के से कोई अमूल्य अनुभव, राजनीतिक रहस्य, साहित्यिक सेवाएँ, जीवन-आदर्श और धार्मिक एव नैतिक सिद्धान्त बतलाने को नही है, फिर मै अपने पाठको का धन और समय क्यो नष्ट करूँ? 'मन्दः कवि यशः प्रार्थी गमिष्याम्युपाहस्यताम्'। उपहास में भी मेरी लक्ष्य-सिद्धि है।

फारसी मे एक हिकायत है कि एक अक्लमन्द से किसी ने पूछा कि आपने अक्लमन्दी किससे सीखी? उत्तर मिला—'अज बेवकूफाँ' अर्थात् मूर्खों से। ठीक इसी भाव को रख कर

आप लोग भी मेरी पुस्तक से लाभ उठा सकेंगे। मुझे इतना ही खेद है कि बेवकूफी करने मे मै अपने शिकारपुरी मित्र की भाँति फर्स्ट डिवीजन न पा सकूँगा। इस क्षेत्र मे भी मैं साधारण (Mediocre) से ऊँचा नहीं उठ सका हूँ। मुझे अपने मिडियोकर होने पर गर्व है क्योकि उसमे मेरे बहुत से साथी हैं। 'मर्गे अम्बोह जश्न दारद' अर्थात् बहुत से लोगो की एक साथ मृत्यु, उत्सव का रूप धारण कर लेती है। खैर मै अपनी समाज-प्रियता में इस सीमा तक तो न जाऊँगा, लेकिन सबसे आगे जाकर अकेला रहना मुझे रुचिकर नही। 'दिल के बहलाने को गालिब यह ख्याल अच्छा है'।

वैसे तो 'निज कवित्त' की भाँति 'निज चरित्र केहि लाग न नीका, सरस होउ अथवा अति फीका' किन्तु मै अपने गुण-दोषो से भली भाँति परिचित हूँ और फीके को सरस बतलाने का साहस नही कर सकता। बड़े आदमियो के चरित्र मे इतनी बड़ी-बड़ी बाते रहती हैं कि उनके लिए किसी को कवि बना देना 'सहज सम्भाव्य' है। मुझसे तो वे बाते कोसो दूर है। वे शायद मेरे उच्छृङ्खलतम स्वप्नो के क्षेत्र से भी बाहर है। किन्तु मुझे अपने तुच्छ जीवन मे कुछ हास्य और मनोरञ्जन की सामग्री मिली है, उसको आपके सामने रखने का मोह संवरण नही कर सकता। मैं रत्नो से तो नही, कॉच की मणियो से आपका मनोरञ्जन करना चाहता हूँ। आप सच्चे वेदान्तियो की भाँति कञ्चन को मिट्टी न समझ कर मिट्टी मे कञ्चन देखिए।

आत्मकथा-लेखक के दो व्यक्तित्व होते हैं, एक चरित्रनायक का, दूसरा लेखक का। इसमे चरित्रनायक के व्यक्तित्व में कोई आकर्षण नहीं। लेखक के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे यदि 'आपुन करनी, भाँति बहु बरनी' की बात न समझी जाय तो, मै कहूँगा कि इसमें साहित्यिक हास्य का काफी मसाला मिलेगा। जो लोग

इसमे धौल-धप्पे का और हू-हक का हास्य देखना चाहेंगे, उनको शायद निराश होना पड़े।

मैंने आप लोगों के मनोरञ्जन के लिए स्वयं अपने को ही बलि का बकरा बनाया है। यदि मेरे साथ दो-एक और सज्जन भी लपेटे मे आ गये है तो उनसे मै हार्दिक क्षमा चाहता हूँ। मै अपने जीवन की असफलताओं पर स्वयं हँसा हूँ। यदि आप इस पुण्य-कार्य मे मेरा सहयोग देंगे तो मै अपनी असफलताओ के वर्णन मे अपने को सफल समझूँगा। मुझे अपने पाठको की सहृदयता मे विश्वास है। भवभूति की तरह शायद मुझे यह न कहना पड़े कि 'उत्पत्स्यते ममतु कोऽपि समानधर्मा कालोह्ययं निरवधिर्विपुला-च पृथ्वी।' जब लोग बिना निमन्त्रण के ही हँसने को तैयार रहते है तब वे इस सादर निमन्त्रण की अवहेलना न करेंगे—ऐसी मुझे आशा है। यदि मै बुधजनो की अथवा अबुध जनो की भी प्रसन्नता का साधन बन सकूँ तो अपने को धन्य मानूँगा।

'जो प्रबन्ध बुध नहि आदरही। सो श्रम बाद बालकवि करही॥'

गोमती-निवास, आगरा।
मकर संक्रान्ति १९९८

गुलाबराय

विषय-सूची

बालस्तावत् क्रीड़ासक्तः

(जब मैं बालक था)

यद्यपि मेरी बहुत सी चीजों की भांति मेरी जन्म-पत्री ला-पता है तथापि यदि आप मेरा विश्वास करें तो मेरे जीवन की सब से बड़ी असफलता यह थी कि मैंने वसन्त-पञ्चमी* से एक दिन पहले इस पृथ्वी को भाराक्रान्त किया। मेरे जीवन का श्रीगणेश ही कुछ गलत हुआ किन्तु इतना सन्तोष है कि पीछे आने की अपेक्षा आगे आना श्रेयस्कर है। इसमे अग्रदूत कहे जाने की सम्भावना रहती है। यदि मै बड़ा आदमी होता और यदि मेरा जीवन-वृत्त किसी सच्चे या झूठे भक्त ने लिखा होता तो वह ऐसी ही बात कह देता।

मेरा जन्म इटावे मे हुआ था। मुहल्ले का तो नाम सुना है उसे छपैटी कहते है, लेकिन उस घर का पता नहीं लगा सका जिसमे मेरा जन्म हुआ था। यह प्रयत्न अपने को महत्ता देने के

---

*संवत् १९४४

कारण नही वरन् शुद्ध कौतूहल और मनोविनोद के लिए किया गया था। मेरे पूज्य पिताजी (बाबू भवानी प्रसाद) इटावे मे नौकर थे। वहाँ से उनकी बदली होने पर मै ढाई वर्ष की आयु में मैनपुरी लाया गया। मैनपुरी के लोग धोकेबाज कहे जाते है मुझे इसका निजी अनुभव तो नही है किन्तु उसके सम्बन्ध मे जनश्रुति यह है मैनपुरी बगल मे छुरी खायँ सतुआ बतावें पुरी उसका कुछ अच्छा भी इतिहास है। (उसके पास धारानगरी है जिसे धारऊ कहते है) वह मुझे याद नही। मै हस तो हूँ नही जो 'पय पियय परिहरि वारि विकार'। मेरा मन तो विकार की ओर ही अधिक जाता है। अस्तु इसी नगरी मे बाल्यकाल बीता। इसके लिए मै लज्जित भी नही क्योंकि भारत की मोक्षदायिनी सप्त पुरियो मे अग्रगण्य काशी के सम्बन्ध मे भी जनश्रुति कुछ अच्छी नही है: जनश्रुति तो क्या ? श्रुति सम्मत हरिभक्तिपथ के अनुगामी, धर्म-भीरु बाबा तुलसीदास जी ने काशी के सम्बन्ध मे स्वयं कहा है 'बासर ठासन के ठका रजनी चहुँ दिसि चोर' फिर बिचारी मैनपुरी किस गिनती मे है।

इटावे के जीवन के सम्बन्ध से मेरा स्मृति-पटल बिलकुल कोरा है, यदि दार्शनिक शब्दावली का व्यवहार करूँ तो वह टेब्युला राज़ा (Tabula Rasa) है इसका अर्थ भी कोरी पट्टी है। मैनपुरी के प्रारम्भिक जीवन की कुछ धुंधली सी स्मृति है, जैसी कभी-कभी भूत-विद्यावादी फोटोग्राफरो की तसवीरो मे किसी प्रेतात्मा की छाया आजाती है। उस रूप-रेखा-विहीन स्मृति को देखते हुए मै कह सकता हूँ कि लोग यदि पूर्व जन्म की बाते भूल जाते है तो कोई आश्चर्य नही। सम्भव है कि मेरे प्रारम्भिक जीवन मे कोई आकर्षक बात न रही हो। फ्रॉयड साहब यदि जिन्दा होते तो यही व्याख्या देते। अदालत के सत्यमूर्ति सत्यावतार गवाह की तो जो सत्य, पूर्ण सत्य और सत्य के

अतिरिक्त और कुछ न कहने की शपथ खाता है (और न जाने क्या-क्या खाता है?) मै प्रतिस्पर्धा नही कर सकता, मै गंगा तुलसी भी नही उठाऊंगा (अधार्मिक होते हुए भी दोनो का आदर करता हूँ) और न मै मुँह मे सोना डाले हुए हूँ किन्तु स्मृति को कल्पना से यथासम्भव अतिरंजित न करूँगा।

हमलोग एक ब्राह्मणी बुढ़िया के घर के दूसरे भाग मे रहते थे, उसका नाम था दिवारी की मा। मैं अपेक्षाकृत अभावो की दुनिया मे पला था। 'चाहिए अमी जुरै न छाछी' की तो बात न थी, न तो मेरी महत्वाकाक्षाएँ ही बढ़ी हुई थी और न सुविधाओं का नितान्त अभाव था; फिर भी मै उन बालको मे से न था जो गर्व से कह सके कि मेरा जन्म सम्पन्न घराने मे हुआ था 'I was born with a Silver spoon in my mouth' मेरे यहाँ चाँदी का चम्मच तो क्या पीतल का भी न होगा। यदि मुझको ऊपरी दूध भी मिल गया हो तो सिपी से, जो मोती की जन्मदात्री है। खैर, मुझे गरीबी के कारण कभी-कभी रसना का संयम करना पड़ता था। दिवारी आलू-कचालू की चाट बेचा करता था। मुझे याद है कि मै एक बार चाट के लिए मचला था, दिवारी को पड़ोसी-धर्म और मैत्री-धर्म का उपदेश दिया था, माता से पैसे के लिए अनुनय-विनय की और फिर कही अपनी रुचि की तृप्ति कर सका था। अच्छे खाने की कमजोरी श्रवण समीप हो नही सारे बाल सफेद प्रायः हो जाने पर भी बनी हुई है। उस घर की बाल-क्रीड़ाओं मे अंधे बनकर चलने और चाई-माई खेलने की मुझे स्पष्ट स्मृति है। इस बात को अपनी माताजी से बार-बार उल्लेख सुनने से उसकी स्मृति और भी उभार मे आ गई थी।

घर का वातावरण धार्मिक था। माताजी सूर और कबीर के पद गाया करती थी। मुझ पर प्रहलाद की कथा का बड़ा

अभाव था। मुझे पूरा विश्वास था कि 'राम कृपा कछु दुर्लभ नाहीं' बिल्ली के बच्चे अवश्य कुम्हार के अवे मे जिन्दा बच गये होगे—होगे क्यो कहूँ—थे कहना सत्य के अधिक निकट होगा। एक बार पड़ोस में जाकर एक कुम्हार से पूँछा भी था कि क्या वह बिल्ली जो उसके पास बैठी हुई थी अवे में से निकली थी। 'तो में मो मे खड़ग खम्ब मे' राम का अस्तित्व बताने मे मुझे प्रसन्नता होती थी। 'कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारं' भगवान शिव को और 'शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं' ठाकुरजी को श्रद्धा-भक्ति पूर्वक दण्डवत करने मे परमानन्द का अनुभव करता था। उत्तरकालीन बुद्धिवाद ने उस आनन्द को मिट्टी मे मिलाकर अभी तक मुझे कोई ऐसी वस्तु नही दी है जिसके कारण मै सांसारिक सुखो और महत्वाकांक्षाओ को भूल जाऊँ और इधर-उधर न भटकूँ। हाँ मेरी वह विनय अब इधर-उधर बिखर गई है। अब तो मै सभी को 'सियाराम मय' जानकर 'जोर-जुग पाणी' प्रणाम करता हूँ लेकिन जिनसे कुछ स्वार्थ है उन्ही के प्रति यह बुद्धि अधिक रहती है। 'छोटे मुँह बड़ी बाते' कहना मुझे बहुत प्रिय था और इस कारण मै प्रायः मूर्ख भी बन जाता था। मै समझता था कि जिस प्रकार सरसों से तेल निकलता है उसी प्रकार गेहूँ से घी निकलता है क्योंकि गेहूँ सरसों से अधिक कीमती होता है। भेड़िए को मै भेड़ का बच्चा कहा करता था।

मेरे पड़ोस मे एक बढ़ई महाशय रहते थे उनका नाम था सुखराम। वे बड़े धार्मिक थे। वे शायद अब भी जीवित है। पिछली बार जब मैं मैनपुरी गया था तब उन्होंने कहा था 'कल्लि के लला बूढ़े हुइ गये'। उनके चबूतरे पर नीम के नीचे रामायण सुनना मुझे बड़ा अच्छा लगता था। लोग कहते थे कि मैं बड़ा भक्त बनूँगा लेकिन बड़ा होकर मैंने उनकी आशाओ

पर पानी फेर दिया। फिर भी उसका असर अब भी कुछ बाकी है धार्मिक बातो का मै आदर करता हूँ। खेल-कूद मे विशेष रुचि न थी किन्तु उसके नाम से बिलकुल अछूता न था क्योकि खेल-कूद के पक्ष मे जो बाते कही जाती थी वे मुझे अच्छी लगती थी। उनमे से दो बाते अब भी याद है। 'ओनामासी धङ्ग बाप पढ़े ना हम' (उस समय मै यह नही जानता था कि "ओनामासी धङ्ग जैनियो की देन है ('ॐ नमः सिद्धाण') 'खेलोगे कूदोगे होगे नवाब, पढ़ोगे लिखोगे होगे खराब'। धार्मिक होते हुए पढ़ने-लिखने से मै जी चुराता था अवश्य लेकिन वहुत नही। मुझे कभी कोई घसीट कर मदर्से नही ले गया।

खेल कई किस्म के होते है। उनमे वे खेल मुझे पसंद नही थे जो दो चार बालक मिल कर खेलते हो। इसका कारण यह था कि मेरे और छोटे भाई-बहन नही थे। इसलिए एकांत के खेल अच्छे लगते थे। जैसे कागज के आदमी या जानवर बनाना। एक बार मैने अपने पिता के एक मित्र के नुसखे का आदमी बना दिया, बड़ी डाट-फटकार पड़ी। दियासलाई के बक्सो की रेल बनाना आदि के खेल अच्छे लगते थे। अपने पड़ोसी मिस्त्रीजी के यहाँ से लकड़ी की गिट्टक बटोर लाता था और उनके पुल बनाता था। मुझे बैठे रहना अधिक पसंद था, जब जबरदस्ती भगाया जाता था तभी भागता था। स्वास्थ्य के बारे में मेरे पिताजी अधिक सचेत रहते थे किंतु खराबी यह थी कि स्कूल के सबक की तरह ही भाग-दौड़ का काम मुझ से लिया जाता था। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है मै स्वयं आंख मीच कर चलना और चाई-माईं फिरना अधिक पसंद करता था। कभी अंधा बन कर भीख मांगने का भी अभिनय करता था। एक बार मै ननसाल गया हुआ था, वहां वास्तव मे लाड़-प्यार में पढ़ना, लिखना भूल गया था। मेरे पिता जी ने लिखा

कि तुमने वहां पढ़ना-लिखना तो ताक में रख दिया होगा। उसका अर्थ मैं यह समझा था कि मेरा बस्ता तिखाल मे रक्खा है। मैंने अपनी माता से पूछा कि बस्ता तिखाल मे न रक्खूँ तो क्या खूँटी से लटकाऊँ?

पढ़ने-लिखने के सम्बंध में यह कह सकता हूँ कि पढ़ने में तो मुझको रुचि थी लिखने मे नहीं। मेरे पिताजी ने मेरे पढ़ाने में बहुत दिलचस्पी ली। उन्होंने मेरी कई बुरी आदतों को उँगलियो पर पैन्सिल मार-मार कर, जबरदस्ती छुड़ाया। मै उँगलियो पर गिना करता था। उँगलियो पर गिनने से मन मे जोड़ लगाना नही आता। खराब लिखने पर मै बहुत पिटा हूँ। खराब लिखना तो नहीं छूटा लेकिन हरफ कुछ स्पष्ट लिखने लगा था। उन दिनो ताड़ना का अधिक महत्त्व था। ताड़ना की एक खराबी तो रही कि जितना शरीर स्वस्थ बालक को बनना चाहिए था उतना नही बना लेकिन उसके साथ कई गुण भी आये। वे यह कि पराई चीज न लो और दूसरों का आदर करना।

मार्शल लॉ

(मेरी प्रारम्भिक शिक्षा)

यद्यपि उन दिनो प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने का या निरक्षरता-निवारण का कोई आन्दोलन नही चल रहा था तब भी मै घर बैठकर मौज न उड़ा सका। पढ़े-लिखे घरो मे तो शायद विद्यारम्भ-संस्कार उतना ही जरूरी है जितना कि विवाह, शायद उससे भी ज्यादह क्योकि विवाह का बन्धन कुछ दिन टल भी जाता है लेकिन शिक्षालय का जेलखाना तो बच्चे के खेलने-खाने के दिनो में ही तय्यार कर दिया जाता है। विद्यानिधि भगवान् रामचन्द्र और कलानिधि भगवान् कृष्ण को भी गुरु-गृह जाकर विद्याओ और कलाओ के अध्ययन की खानापूरी करनी पड़ी थी। यदि आपको विश्वास न हो तो बाबा तुलसीदासजी का प्रमाण दे सकता हूँ 'गुरु गृह पढ़न गये रघुराई' अगर आप बहुत झगड़ा करेगे तो श्रीमद्‌भागवत् का भी प्रमाण दे दूँगा। कृष्ण भगवान् ने चौसठ दिनो मे चौसठ कलाएँ सीखी थीं। सान्दीपन मुनि का नाम तो उनके शिष्य के कारण ही अमर हुआ।

मेरे पिता सरकारी नौकर थे। उर्दू से उन्हे द्वेष न था। इतना ही नहीं, वे उसका पढ़ना जरूरी समझते थे क्योंकि उन दिनो बिना उर्दू-ज्ञान के पास-पोर्ट के सरकारी नौकरी के क्षेत्र

मे प्रवेश करना असम्भव-सा था। तो भी कुछ धार्मिक संस्कार के कारण मेरी शिक्षा का प्रारम्भ 'बिस्मिल्ला हिर्रहमानुर्रहीम' से नही हुआ। पगड़ी-अँगरखे से सुसज्जित एक पण्डितजी आये। उनका नाम पण्डित लालमणि था। वे अपने नाम के आगे शर्मा वर्मा कुछ नहीं लिखते थे। 'विद्यारम्भे विवाहे च' के अनुसार उन्होने गणेशजी के बारह नामो का उच्चारण किया। मुझसे हाथ पकड़कर 'श्रीगणेशाय नमः' लिखाया गया। उस समय मै चित्र-लिपि की बात तो नहीं जानता था, लेकिन मेरा विश्वास हो गया था कि श्री का सम्बन्ध गणेशजी की मूर्ति से है। श्री मे भी एक सूँड़ सी रहती है।

अक्षरारम्भ कुछ घर पर हुआ, कुछ पाठशाला मे। मुझे मालूम नही अक्षर-ज्ञान कराने मे किसको कितना श्रेय है। हाँ, इतना अवश्य याद है कि मुझे कोई किताब नहीं दी गई थी। पट्टी पर बुद्दके से लिखना चाहे उतना वैज्ञानिक और कलात्मक न हो जितना कि अनार और अमरूद से 'अ' का बोध कराना, किन्तु मेरा विश्वास है कि लिखने मे हाथ की पेशियो का अक्षरों के आकार से परिचित हो जाना अक्षर-बोध मे अधिक सहायक होता है। उस पाठशाला मे एक लड़का था, जिसको टीकू कहते थे। 'माया के तीन नाम परसा, परसी, परसराम' वाली बात के अनुसार विकास-क्रम मे टीकू उसके नाम की दूसरी ही श्रेणी थी, अभी वह टीकाराम नहीं बन सका था। वह रामायण अच्छी पढ़ता था। उस समय उसकी तरह से रामायण पढ़ लेना, मेरी शिक्षा-सम्बन्धी महत्वाकांक्षाओं की चरम सीमा थी। खेद है कि उस उच्चतम शिखर की छांह तक नही छू पाया हूँ।

पाठशालाएँ उस समय भी पिछड़ चुकी थी। तहसीली स्कूलों और मकतबो का बोल बाला था। जब तक पाठशाला में पढ़ा तब तक तो मेरे ऊपर दण्ड-विधान लागू नही हुआ, शायद तब

तक 'पञ्चवर्षाणि लालयेत्' की बात चल रही थी; यद्यपि उस समय मेरी उम्र शायद छः वर्ष की हो गई थी लेकिन तहसीली स्कूल में आते ही दण्ड-विधान दावे के साथ शुरू हुआ। रवि बाबू ने अपने प्रारंभिक शिक्षकों की तुलना गुलाम बादशाहों के शासन से की थी। मै उनको गुलाम कहने की धृष्टता नहीं करूँगा। रवि बाबू बड़े हैं, समर्थ है—'समरथ को नहि दोष गुसाईं, रवि, पावक, सरिता की नाईं''—लेकिन मै इतना अवश्य कहूँगा कि वे दण्डधारी अवश्य थे। वे सन्यासी तो थे नही (क्योंकि वे कमण्डल नही धारण करते थे) इसलिए वे राजा ही थे। मालूम नही रामराज्य मे उस्ताद लोग दण्ड का प्रयोग करते थे या नही। मुझे बाबा तुलसीदासजी की 'दण्ड जतिन कर' वाली उक्ति मे संदेह है। उस जमाने मे भी शायद उस्ताद लोग दण्डधारी होते होंगे। अस्तु, स्कूली दण्ड-विधान में कान पकड़ कर उठाना-बैठाना तो शायद रहमदिली का परिचय देना था। उस समय के अध्यापको का दिमाग़ सजा के प्रकार सोचने मे यूरोप के इन्क्विज़िशन (Inquisition) वालो से कुछ कम न था। एक अध्यापक महोदय ने तो एक किवाड़ को जोर से घुमाकर मेरे सर मे मार कर अपनी उर्वरा बुद्धि का परिचय दिया था। कहीं उँगलियो मे कलमे दबाते थे तो कहीं पेड़ से लटका देते थे। मुर्गा बनाना भी उस विधान की एक धारा मे था रूल डण्डा तो उन लोगों का चलता था जो लकीर के फकीर थे या अधिक प्रतिभावान न थे। पुलिस वाले भी इन विधियों में से कुछ का प्रयोग करते है। यह मै नही कह सकता कि वे पुलिस वालो ने शिक्षा-विभाग से सीखी या शिक्षा-विभाग ने पुलिस से। यह ऐतिहासिक अनुसंधान का विषय है—और इस पर सहज ही मे किसी को डाक्टर की पदवी मिल सकती है। जब स्वयं पितृदेव 'लालने बहुवः दोषाः ताड़ने बहुवः गुणाः' मे विश्वास

रखते थे तब अध्यापकों का क्या कहना है ? मेरे पिताजी के हुक्के की निगाली की कई बार मेरे पृष्ठ भाग पर परीक्षा हुई। वह पोली लकड़ी मेरे दधीच की हड्डियो से स्पर्धा करने वाले मेरे मेरु-नाल का क्या मुकाबला करती ? तिस पर भी मेरा लिखना न सुधरा और न हिज्जे ही दुरुस्त हुए। फारसी में सौ मे पैंसठ नंबर प्राप्त करने पर भी फारसी 'स्वाद' से लिखता था। अब भी मुझे मामूली शब्दो के लिए डिक्शनरी की शरण लेनी पड़ती है।

झूठ बोलने पर मैंने बहुत मार खाई है। झूठ मै शरारत करने के लिए नही बोलता था। शरारत मुझसे बहुत दूर थी उस कठोर शासन मे शरारत के लिए गुञ्जायश कहाँ ? किन्तु उस समय छोटे से संसार की समस्याएँ इतनी जटिल थीं कि विना झूठ बोले उनका सुलझाना मुश्किल हो जाता था। बेत का भय ही झूठ का जनक था। बहुत कोशिश करने पर भी मै खुशखती की कापियाँ न लिख पाता था, फिर झूठ के सिवा और क्या चारा था ? यही कारण है कि मै महात्मा गांधी न बन सका।

तहसीली स्कूल के पश्चात मैं अङ्गरेजी शिक्षा के लिए जिला स्कूल में भर्ती हुआ। वहाँ अँग्रेजी के साथ उर्दू दिलाई गई अँग्रेजी की अतिरिक्त शिक्षा पिताजी ने दी और उर्दू की अति-रिक्त शिक्षा के लिए मकतब जाना पड़ा। मेरे पिताजी को कन्ज्यू-गेशन ऑफ वर्ब्स (क्रियाओं का भूत भविष्य और वर्तमान-कालीन रूप और पुरुष याद करना) में बहुत विश्वास था। अंग्रजी तो मै अब पहले से कुछ अच्छी बोल लेता हूँ लेकिन अब मै एक साथ tense (लकार या काल) नही गिना सकता। उन्होने 'होना' (verb to be) का कञ्जूगेशन याद कराया था। कोई-कोई verb to love का भी कञ्जूगेशन पढ़ाते थे (शायद verbto be (मै-हूँ मै-हूँ) का मन्त्र रटने के कारण हीयह व्याधि-मन्दिर-शरीर अभी तक डटा हुआ है।) इसका

फल यह हुआ था कि मै पॉचवी छठी जमात मे ही अंग्रेजी बोलने लग गयाथा। इस कारण अंग्रेज हैडमास्टर थोड़े खुश हो गये थे (मैं पीछे से मिशन स्कूल मे पढ़ने लग गया था) और कभी कभी मै वेत की ताड़ना से बच भी जाता था।

मेरे मौलवियो मे दो को छोड़कर और सब मार्शल ला मे विश्वास रखते थे। मौलवी मियॉदाद खाँ जवान थे और इसलिए उनकी मार मे भी जवानी का जोश था।

उर्दू मैने डायरेक्ट मैथड (direct method) से पढ़ी पहले मै सबक रटकर याद कर लेता था। पीछे से मुझे अक्षर-बोध हुआ। जिस दरजे मे भरती हुआ उसमे अलिफ वे नही पढ़ाई जाती थी। अलिफ वे लिखना आ गया, फिर तख्ती की लिखाई शुरू हुई। तख्ती की लिखाई की बदौलत मुझे फारसी की एक वेत का मिसरा अब भी याद है, 'कलम गोयद कि मन शाहे जहानम्' शायद उसी के उपचेतना मे (Suboonscious) रह जाने के कारण मैने लेखक-वृत्ति धारण की है और यद्यपि वहुत ऊँचे तो नही पहुँचा, पर पददलित भी नही हुआ।

मौलवी नवाव खॉ अत्तारी की दुकान करते थे। मै उनकी दुकान पर पढ़ने जाया करता था। जब स्याही का पानी चुक जाता था तब वे अर्क गुलाव, अर्क बादियॉ या अर्क गाजवाँ डाल दिया करते थे। मौलवी असदुल्ला खाँ भी वड़े नेक थे। उन्होने फारसी के व्याकरण पर मेरी बड़ी श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी। मैंने आठवे दर्जे तक फारसी पढ़ी। नवे दर्जे मे जव अरबी पढ़ने का सवाल आया तब मै घबरा उठा। उस समय मैं यह नही जानता था कि फारसी आर्यन भाषा वर्ग मे है और अरबी सेमेटिक वर्ग मे—लेकिन अरबी मुझे अपनी प्रकृति के विरुद्ध लगी। मेरा वैसा गला न था जैसा अरबी पढ़ने वालों का होता है। प्रश्न यह हुआ कि साइंस लूँ या सँस्कृत। दोनो मे मेरी समान

रुचि थी, क्योंकि दोनो का सम्बंध सरस सकार से था। साइन्स पिताजी ने नास्तिक हो जाने के भय से नही लेने दी। संस्कृत ली, और खुशी से ली—मेरे संस्कृत के अध्यापक थे पण्डित गिरिजाशंकर मिश्र (वे शायद अब भी जीवित है) यद्यपि वे भौगाॅव के निवासी थे (तब मै मैनपुरी मे पढ़ता था) तथापि बड़े प्रतिभाशाली थे। आर्यसमाजी पण्डितो से मोर्चा लेने की वे ही योग्यता रखते थे। जिस प्रकार नया मुसलमान अल्ला ही अल्ला पुकारता है, मै भी समय-कुसमय 'मया त्वया' की संस्कृत बोलने लग गया। अपनी संस्कृत के पीछे मैने दो पंडितो मे शास्त्रार्थ करा दिया। एक मेरे प्रयोग को अशुद्ध बताते थे और दूसरे सही। भूतकाल के स्थान पर मेरे वर्तमानकालिक प्रयोग को उन्होंने ठीक बतलाया। जिन पंडित ने मेरा प्रयोग अशुद्ध बताया था, उन बिचारो का स्वर्गवास हो गया है। (हालाॅकि इस मामले में मेरा जरा हाथ नही) और जिन्होने मेरा प्रयोग ठीक बतलाया वे जीवित हैं। संस्कृत ले लेने के कारण मौलवी साहब ने मेरा नाम 'विभीषण' रख छोड़ा था। मै उनसे कह देता था कि अगर आप रावण बनते है तो मुझे विभीषण बनने मे कोई ऐतराज नहीं। वास्तव में वे बड़े सज्जन थे।

ऐन्ट्रेन्स की शिक्षा में मेरे ऊपर जो सब से अधिक प्रभाव पड़ा, वह एक बंगाली ईसाई हैडमास्टर का उनका नाम था एन० सी० मुकर्जी, वे अंग्रेजी के एम० ए० थे, संस्कृत अच्छी जानते थे। साइन्स भी जानते थे क्योंकि वे बड़े मनोरञ्जक प्रयोग दिखलाया करते थे। विमशर्ट मशीन से उन्होंने बिजली के धक्के का हम लोगो को अनुभव कराया था। उन्होंने ही विज्ञान मे मेरी रुचि उत्पन्न की थी। उनका हास्य भी बड़ा मधुर था। एक लड़का बड़ा मोटा था। एक रोज वह किसी साधारण से प्रश्न का उत्तर न दे सका तो वे कहने लगे, 'आकार सदृशः

प्रज्ञः ।' यह वाक्य महाराज दिलीप के लिए कालिदास ने कहा है किन्तु मुकर्जी महोदय का अर्थ था जैसा मोटा शरीर, वैसी ही मोटी अक्ल है। उन्होने ही मुझे लूज़ सेन्टेन्स और परियड को अन्तर बताया था। उनके ही प्रभाव से मुझे छोटी और सुन्दर रचनाओ के लिए आदर हो गया था। (यह लेख उस प्रभाव के विरुद्ध है) परिमाण (Quantity) के अपेक्षा गुण Quality की कद्र करना मेरे ताऊ ला० बिहारीलालजी ने मुझे सिखाया था। हमलोगो के यहां पसरट की दुकान होती थी। हमारे कुटुम्बी पुड़िया वाले कहलाते है। दिवाली से कुछ दिन पहले घर के सब लोग दिवाली की पूजा के लिए पुड़िया तैयार कर रहे थे। एक पुड़िया मे चन्दन चूरा डालते हुए उन्होने कहा था—'चन्दन की चुटकी भली—भलौ न गाड़ी भरौ कबार।' मेरे पूछने पर उन्होने मुझे उसका अर्थ भी समझाया था। उसका प्रभाव मेरे मन पर अभी तक है।

मुकर्जी साहब ने मेरा एक निबन्ध ठीक किया था—उसकी बहुत-सी बाते हिन्दी और अंग्रेजी दोनो तरह की रचना करने मे सहायता देती रही। उन्होने मुझे बतलाया था कि छोटे शब्द से वाक्य को खतम न करनी चाहिये, और जहाँ एक शब्द छोटा हो और दूसरा बड़ा तो बड़े शब्द को पीछे रखना चाहिए। उनके बतलाए हुए हास्य के चुटकुले मुझे अब भी याद है

स्कूल की शिक्षा मे इन्सपेक्टरो का जो हाथ था वह भूलने की बात नही है। स्कूल ऐसे सजाये जाते थे जैसे कि गवर्नर के आने मे। मेरे एक मास्टर तो मखमल की अचकन पहनकर आया करते थे। एक बार इन्स्पेक्टर महोदय ने शायद मजाक मे कह दिया था—You look like a prince ! (तुम राजा जँचते हो) उन्होने उसे बड़ी तारीफ की बात समझी। वे अंग्रेजी मुहाविरो का अत्याधिक प्रयोग करते थे। उन्होने ही

भेमु। अंग्रेजी गंवारू प्रयोग (slang) भी बतलाये थे।

स्कूल के दिनों में अंग्रेजी और संस्कृत से मुझे रुचि थी। शेष विषय तो कर्तव्य समझ कर पढ़ लेता था। हिसाब से जी चुराकर भागता था। भक्ति-भावना कुछ अधिक होने के कारण पिता की तो नहीं परम पिता की शरण लेता। जो भगवान बिल्ली के बच्चों को अवे की आग से बचा सकते थे, वे क्या मुझे मास्टर की कोपाग्नि से भस्म होने देंगे ? संस्कृत पढ़कर कुछ पांडित्य-प्रदर्शन का व्यसन हो गया था। आर्य-समाज और सनातनधर्म के शास्त्रार्थों में भी अधिक रुचि थी। मैं सनातनधर्म का पक्ष लेता था और कभी-कभी बहस में घण्टों बिता देता। इस कारण मैं भी धर्म का रक्षक बन जाता था। मेरे पड़ोस में सुखलाल नाम के बढ़ई रहते थे, मैं उनकी कला का बड़ा प्रशंसक था और कभी-कभी खराद की डोरी खींचकर मैं अपने को कार्य-कुशल समझने लगता था। उनके नीम के नीचे रामायण और सबलसिंह चौहान का महाभारत जो मेरे यहाँ बंगवासी के उपहार में आया था, आदि ग्रन्थ पढ़े जाया करते थे। उनको मैं बड़े प्रेम से सुनता था। बस यही मेरा व्यसन था।

ऐसे निर्व्यसन विद्यार्थी की इम्तहान की तैयारी बहुत अच्छी होनी चाहिए थी, किन्तु हिसाब, इतिहास आदि विषयों में रुचि न थी, फिर कैसे अच्छी होती ? अभी तक कभी-कभी स्वप्न में अपनी गैर-तैयारी देखकर चौंक पड़ता हूँ। परीक्षा के लिए आगरे आया। बाबू बनारसीदास जी जैन की कृपा से वैश्य बोर्डिंग हाउस में ठहरा। आगरा कालेज के हाल में परीक्षा दी। परीक्षा-भवन के हाबू बाबू (वर्त्तमान में डाक्टर सुशीलचन्द्र सरकार) से जान-पहचान हुई। तब की मित्रता वे अभी तक निभाये जाते हैं। जब कभी रात-बिरात उन विचारों को बुला लेता , दूसरों का इलाज करते हुए भी वे विचारे बे-उज्र चले आते हैं।

उन दिनो लीडर का जन्म नही हुआ था। परीक्षाफल जानने के लिए यू० पी० गजट ही एक मात्र साधन था। कभी-कभी सम्पन्न लोगो के मित्र या रिश्तेदार नैनीताल से तार भेज देते थे। उनकी प्रामाणिकता मे सदा सन्देह रहता, भयङ्कर भूल भी हो जाती थी। फेल होकर पास होना तो प्रसन्नता को द्विगुणित कर देता है किन्तु पास की खबर पाने के पश्चात् गजट मे फेल निकलना गहरा मानसिक आघात पहुँचाता है। एक बार मिडिल के इम्तहान के सम्बन्ध मे ऐसा धोखा खा चुका हूँ। पृथ्वी के देवताओ को प्रत्यक्ष रूप से और आकाश के देवता अप्रत्यक्ष रूप से प्रसन्न किये गये। हलवाई का भला हुआ। वधाइयाँ मिली और बड़े-बड़े लोगो के घर जाकर प्राप्त की गई। किन्तु गजट आने पर पाँसे उलटे पड़े दिखाई दिये। लज्जा के कारण दो दिन घर से बाहर नही निकला। इस बार दूध के जले ने छाछ फूँक-फूँक कर भी गजट की प्रतीक्षा सन्तोष के साथ की। परीक्षा-फल आने पर कम्पित हृदय से गजट देखने गया। अपना नाम देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और मालूम नहीं देवीजी का या भैरवजी का या महादेवजी का प्रसाद बांटा। उन दिनों सभी मेरे इष्टदेव थे।

मेरी स्कूल की शिक्षा की इति-श्री हुई। 'यहां की वाते यहीं रह गई अब आगे का सुनो हवाल।'

उसे न भूलूँगा

(वैश्य बोर्डिङ्गहाउस की मधुमय स्मृति)

मेरे जीवन नाटक मे थोड़ा सा काव्य भी है। उसको मूर्त-रूप देने के लिए काव्य की भाषा अपेक्षित थी किन्तु मुझे वीणा-वादिनी माता सरस्वती का लाड़िला सुत होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। क्या किया जाय, 'चाहिए अमी जुरै न छाछी' हृदय की जिस उदारता से पण्डित लोग सूखे चावलों मे सरस नैवेद्य और हरे-भरे पुष्प-निर्माल्य की कल्पना कर लेते है, यदि मेरे पाठक भी उसी मनोवृत्ति से काम लेकर मेरी शुष्क एवं कर्कश गद्य में 'एक सुख देखो मैंने बबुल के राज मे, मेरा गुड़ियों का खेलना री' की-सी सुमधुर रागमयी गीत-काव्य-चित्रावली का आरोप कर लें तो वे मेरे भावो के साथ न्याय कर सकेगे।

एक ग्रामीण कहावत है 'बछिया मरी तो मरी आगरो तो देखो' ठीक उसी भावना को लेकर मै एन्ट्रेन्स की (उस समय मेट्रीक्यूलेशन शब्द, जिसे मेरे मौलवी साहब 'मट्टी को लेसन' कहा करते थे, प्रचार मे नहीं आया था) परीक्षा देकर आगरे से मैनपुरी लौटा था क्योकि उसमें पास होना मैं इतना ही दुष्कर समझता था जितना कि सुई के नाके मे से ऊँट का जाना।

दैवयोग से मेरा नाम गजट में आगया। 'अंधे के हाथ बटेर' लगना कहूँ या देवताओं की कृपा का फल कहूँ। मेरे लिए कालेज जीवन का प्रवेश-द्वार खुल गया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हरिभक्तो को स्वर्ग का द्वार खुल जाता है। बड़ी सज-धज के साथ, जो कि एक खुदरंग पट्टू के कोट मे सीमित थी, आगरे आया। असबाब के नाम एक पीपा घी का था, जिससे कम से कम ऋण लेने से बचा रहूँ क्योंकि शास्त्रों का वचन है 'आयुर्वै घृतं' और उसके साथ आचार्यों ने यह भी कहा है कि 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।' मियाँ अल्लाहबख्श के बरकत भरे हाथों से बना हुआ बारह आनेवाला फूल-पत्तीदार चीड़ का एक बक्स जिसकी सिफारिश मे उन्होंने 'कम-खर्च बाला-नशीन' कहा था, मेरे स्वाभिमान को बनाये रखने के लिए पर्याप्त था। बक्स की अपेक्षा मेरा हृदय पूर्ण था। उसमें गृहत्याग का विषाद और कालेज-जीवन-प्रवेश की उत्सुकता के भाव भूखे के पेट के चूहो की भांति द्वन्द्व मचा रहे थे।

उस समय न्यू होस्टल का, जो अब अन्य होस्टलो के बन जाने के कारण पुराना हो गया है और अपने पुरानेपन को छिपाने के लिए टामसन होस्टल के नाम से पुकारा जाता है, मौजूद न था। अन्य होस्टलो की अपेक्षा वैश्य हाउस फेशनेबिल समझा जाता था। फैशन से तो मैं कोसों दूर था, किन्तु वैश्य होने के नाते थोड़ी बहुत सिफारिश के साथ मैं उसमें दाखिल हो गया।

बोर्डिङ्ग के नये विद्यार्थी मे चाहे अजनबीपन न हो किन्तु यार लोगो की एक्सरे-की-सी भेदक दृष्टि उसमे कुछ न कुछ अजनबीपन खोज निकालती है। वह बौरे गाँव का तो नहीं सयाने गाँव का ऊँट बन जाता है। मुझमें भी अजनबीपन का कुछ मसाला मिल गया। बोर्डिङ्ग हाउस में मेरे एक अभिभावक

थे, जलेसर निवासी स्वर्गीय बनारसीदासजी जैन (प्रसिद्ध कवि नहीं) । मै उनसे 'भैयाजी' कहा करता था । बात-बात मे भैयाजी का आश्रय लेता था । कुछ लोगों ने मेरा नाम ही भैयाजी रख लिया और एक महाशय तो थोड़ा सा टेढ़ा मुँह करके लम्बे खिंचे हुए स्वर से मुझे भैयाजी कहकर सम्बोधित करते थे । इसका फल यह हुआ कि मुझ में आत्म-निर्भरता के चिह्न दिखाई देने लगे और कुछ आवारगी यानी घूमने-फिरने की आदत आगई । मै जंगली से शहरी बना ।

यद्यपि बोर्डिङ्ग हाउस के जीवन में पारिवारिक जीवन की प्रतिच्छाया रहती है तथापि एक बात का विशेष अन्तर है। वह है प्रभावो का वैविध्य । उस समय वैश्य हाउस मे सभी टाइप के लोग थे । घोरातिघोर कट्टर सनातन धर्मी जो चौके की लकीर के फकीर होकर उसको इतना ही महत्त्व देते थे जितना कि सीताजी के चारो ओर खींची हुई लक्ष्मणजी की रेखा को देना चाहिए था । मै भी शुरू-शुरू मे उसी वर्ग का था । इस वर्ग में प्रमुख थे लाला राधेलालजी अग्रवाल जो बोर्डिङ्ग की दावतों में भी अलग चौकी पर बैठ कर खाते थे और कभी-कभी धर्म के मामलो मे वे प्रचंड रूप धारण कर लेते थे । उन्हीं के साथ कुछ लोग थे जो योरप मे वेदो का डंका बजाना अपने जीवन का लक्ष्य बनाये हुए थे । उनकी पेटेन्ट वर्दी थी पट्टू का कोट और कन्धे से अछूती भाड़दार चुटिया । श्रीधर्मदेव विद्यार्थी जिनका उस समय नाम था लाला बख्तीमल और जिनको हम चिराग-अली भी कहते थे, इसी टाइप के कहे जा सकते है । कुछ सूटेड-बूटेड साहब लोग भी थे जिनमे स्वदेशाभिमान की मात्रा तो कम न थी किन्तु थे वे आपादमस्तक अंग्रेजी सभ्यता मे शराबोर । उनमे इतनी ही अच्छी बात थी कि मेढक और कछुए की भाँति देशी जीवन में भी वे अच्छी तरह हिल-मिल जाते थे । उस वर्ग में

थे जमुनाप्रसाद जो अब रायबहादुर और चैयरमैन म्यूनिस्पल बोर्ड मथुरा है और उग्रसेन जो अब रायबहादुर बार-एट लॉ और मालूम नहीं क्या-क्या है। इन लोगो में साहिबी शान होते हुए भी अभिमान की गन्ध तक न थी। कुछ ऐसे भी सज्जन थे जो इनकी बराबर फिजूल खर्च तो न थे किन्तु इनसे शान-बान मे पीछे भी नही रहते थे। इस कोटि मे श्रीगोपालचन्द्रजी गिने जा सकते हैं। वे अब किसी रियासत मे मिनिस्टर हैं। उनके कमरे मे नन्हेखाँ कबाड़िया से खरीदे हुए फर्नीचर की भरमार रहती थी। लोग कभी-कभी उनको कबाड़िया-मेड जेन्टिलमेन कह दिया करते थे। दो एक साहब ऐसे थे जो पाउडर-क्रीम के अस्त्रों से ब्रह्मा को नीचा दिखाना चाहते थे, किन्तु रसायन शास्त्र के सारे प्रयोग उन्हे हंस न बना सके।

देशभक्तों मे घोर संशयवादी (Sceptics) बुद्धिवादी (Rationalists) और नास्तिक थे। उनके कर-कमलो में हमेशा कोई न कोई रेशनलिस्ट प्रेस की छः आने वाली पुस्तक दिखाई देती थी। उन लोगो से मैने विकासवाद के सम्बन्ध में बहुत-कुछ सीखा। उनमें प्रमुख थे स्वर्गीय मिन्नीलाल जिनकी नेपोलियन सी लम्बी ठोड़ी उनकी निश्चयात्मकता को प्रमाणित किया करती थी। खेद है वे इस संसार मे नही हैं।

इनके साथ कुछ श्रद्धालु आस्तिक भी थे, इनमे इटावा के लाला सूर्यनारायण अग्रवाल का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। वे थियोसोफिस्ट भी है किन्तु उनकी थियोसोफी उनके कमरे तक ही सीमित रही, क्योंकि मेरी समझ मे थियोसोफिस्ट लोग अपने मोतियों के लिए हंस ही ढूँढ़ा करते है। हाँ, एक और जबर्दस्त थियोसोफिस्ट थे, उनका नाम था श्री द्वारिकाप्रसाद गोयल। वे बड़े अच्छे वक्ता थे किन्तु उनकी वक्तृत्वकला उनको चार बार मे फोर्थ ईयर रूपी महोदधि के पार न लेजा सकी। वे

हर बात में फोर्थ डाइमेन्शन (Fourth Dimension) और थॉट फॉर्म्स (Thought forms) की दुहाई देते थे किन्तु उनका देशभक्ति-सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन गम्भीर था। हिन्दी-भक्तों के साथ कुछ मौलाना लोग भी थे जो 'अरे म्याँ चिराग़ में कुछ रौग़न-औग़न भी है या नहीं' कह कर अपनी उर्दू-संस्कृति का परिचय दिया करते थे। मौलाना नाम के कारण वृन्दावन के एक मन्दिर में उनका प्रवेश रोक दिया गया था। वे मन्दिर के सिपाही से भी 'अरे म्याँ मैं तो अगरवाला हूँ' कह बैठे थे। चोटी-जनेऊ दिखाने पर ही उन्हे भगवान के दर्शन मिले। आज कल के शिखा-सूत्र-हीन विद्यार्थी होते तो न जाने क्या होता ?

इन मित्रों के साथ मैं श्री कन्हैयालालजी बौहरे का नाम लेना नहीं भूलूँगा। ये महाशय भी देशभक्त थे पर संयत टाइप के। डेम्पियर पार्क मे इनकी नई कोठी को देख कर आश्चर्य चकित होकर मुझे कहना पड़ा था 'अकबरा तेरे जे जे ठाठ' ये महाशय मेरे मथुरा जाने पर अब भी किराये-भाड़े के लिए एक रुपया भेंट किया करते हैं। मै भी उनके आगे हाथ पसारने में लज्जित नहीं होता।

किसी न किसी गुण के कारण मैं सभी का भक्त था और सभी ने मुझे अपना अन्तरंग मित्र समझने की कृपा की थी। इसलिए ठलुआ-पन्थी के लिए काफी अवसर मिलता था और साथ ही ज्ञान-विस्तार को भी। स्वदेशी आन्दोलन खूब ज़ोर पर था। सिवाय मेरे रायबहादुर मित्रों के जो मुझसे विशेष घनिष्टता रखते थे और सब स्वदेशी रंग में रँगे हुए थे। बाबू जमुनाप्रसाद काली कामर तो न थे, वे काफी गोरे-चट्टे थे, पर उन पर दूसरा रंग नही चढ़ा। यद्यपि भवभूति के शब्दो में यह तो नहीं कह सकता कि 'अविदितगतयामा रात्रिरेवं विरंसीत' तो भी बारह बज जाना सहज बात थी। कोई ऐसा वाद न था जो उस

ठलुआ पार्टी मे वार्तालाप का विषय न बना हो। शहर का संदेशा तो क्या सारे देश का संदेशा हम लोगों को था किन्तु कभी लटे नहीं। विज्ञान के नये-नये प्रयोग किये जाते थे। मेरे यह सुझाने पर कि सूर्य अत्यन्त ठण्डा है क्योंकि जितना हम ऊपर चढ़ते है उतना ही तापमान कम होता है और सूर्य की गर्मी रश्मियो के संघर्ष के कारण है, मुझे डी. एस. सी. की डिगरी मिली थी। इसी प्रकार मैने यह बतलाया था कि एयरोप्लेन मे ऊँचे उठकर हम एक दिन मे अमरीका पहुँच सकते हैं। पृथ्वी अपनी कीलीपर घूमती है, घूमते-घूमते जब अमरीका आये तुरन्त नीचे उतर जायँ। इसपर दूसरी बार डिगरी मिलते-मिलते रह गई।

यद्यपि कवि-सम्मेलनो की उस समय प्रथा न थी तथापि हम सभी आशु कवि थे। जीवन ही काव्य था। फिर गुप्तजी के शब्दों मे कवि बन जाना सहज संभाव्य था। बाज़ार से जाते हुए भूख लगी और शायद उसी तेजी और भावुकता से जिससे कि महर्षि बाल्मीकि के मुख से 'मा निषाद' वाला अनुष्टुप छन्द निकला था शिखरिणी छन्द निकल पड़े थे। 'भुन्ने भिन्नी गिन्नी लवणयुत सिन्नी तब मिले' (उस समय गिन्नियो का अभाव न था और लाला भिन्नीलाल के पास गिन्नी थी) मानसिक भोजन के साथ भौतिक भोजन भी बड़ा उत्तम मिलता था। जुगल महाराज और मेवाराम महाराज का नाम मेरे हृदय-पटल पर चिरकाल तक अंकित रहेगा। वैसा भोजन, न शारीरिक और न मानसिक अब किसी बोर्डिङ्ग मे मुश्किल से ही मिलेंगे। उस समय हमारे मेस में पूरा साम्यवाद था। डाइट्स (diets) लिखी नहीं जाती थीं क्योंकि सभी लोग 'अजगर करे न चाकरी' के मानने वाले थे, फिर टेनीसन की लोटस ईटर्स नामकी कविता भी पढ़ चुके थे। हाज़िरी कौन भरे? महमान सबके महमान होते थे और सबका बराबर एकसा उत्तरदायित्त्व था।

मेरे कक्षबासी चम (chum) मुझसे सदा झगड़ा करते थे। मैं यदि तीन बजे उठकर पढ़ूँ तो वे तीन बजे तक कमरे को आलोकित रक्खें। इस प्रकार ब्रिटिश एम्पायर की भांति मेरे कमरे मे सदा उजाला रहता था। बाबू जानकीप्रसाद कार्य-विभाजन मे अधिक विश्वास रखते थे। रात को ऊपर की चटखनी वे बन्द करते तो नीचे की मैं बन्द करता। मुझे अध्ययन मे पराई पत्तल का भात अच्छा लगता था। आर्ट्स का विद्यार्थी होकर विज्ञान में मुझे रुचि थी। संस्कृत की बजाय फिजिक्स की किताबे पढ़ता। तर्कशास्त्र मेरा विशेष विषय था। बिना पैसे की चार-चार घंटे ट्यूशनें करता था। इन सब बातो का फल यह हुआ कि सुयोग्य गुरुओं को, जिनका पृथक वर्णन करूँगा, पाकर परीक्षाओं की मंजिले धीरे-धीरेमैंने तय कीं। शनैः कन्थाः शनैः पन्थाः शनैः पर्वत लंघनं, शनैः विद्याविक्तञ्च एते पञ्च शनैः-शनैः। मैं नही जानता इसको सफलता कहूँ या विफलता किन्तु उस जीवन में सजीवता थी, विशाल भारत में उसके सुयोग्य सम्पादक पंडित श्रीराम शर्मा द्वारा निर्जीवता की अमर ख्याति प्राप्त करके भी मैं अपने को सजीव कह सकता हूँ, यह उसी समय की सजीवता का प्रतिस्पन्दन है। नहीं तो जाको मारे साइयाँ राखि सके को ताहि?

नमो गुरुदेवेभ्यो

(कालेज जीवन के दश गुरु)

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

कछुआ और मेढक की भाँति कुछ जीव उभयगति होते हैं। उनकी गति जल-थल मे समान रहती है। मै भी किसी अंश में वैसा ही जीव हूँ। मैं आगरा कालेज का विद्यार्थी रहा हूँ और सैण्टजौन्स का भी। यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस कालेज का मै कितना ऋणी हूँ तथापि यदि मैं किसी कल्पना-विस्तार से अपने को प्रस्तर मूर्ति होने का गौरव दूँ तो मै यह कह सकता हूँ कि मुझ अनगढ़ प्रस्तर-खण्ड* को बाहरी रूपरेखा मिशन हाईस्कूल मैनपुरी में मिली थी। वह आगरा कालेज में गढ़ा गया और उसे सेण्ट जॉन्स कालेज मे ओप (पोलिश) दिया गया। उस मूर्ति को वैश्य बोर्डिङ्ग में सजीवता मिली।

मुझे अपने कालेज जीवन मे विष्णु भगवान् के दशावतार स्वरूप दस गुरुओं की 'बूटाच्छादित-चरणाम्बुज-सेवा' का

---

* मेरे मौलवीसाहब मुझे अक्सर कुन्दए नातराश कहा करते थे। उसका अर्थ अनगढ़ पत्थर के समान ही है।

सौभाग्य प्राप्त हुआ है। स्मृति-मन्दिर मे सुखासीन उन प्रत्यक्ष देवताओं के धुँधले से शब्द-चित्र अङ्कित कर मै अपनी स्वर्ण-जिह्वा लेखनी को पवित्र करूँगा। यद्यपि देवताओं में कोई छोटा बड़ा नही होता तथापि मैं गणेश स्वरूप अपने संस्कृत अध्यापक पं० कृष्णलाल मिश्र के चरणो मे श्रद्धाञ्जलि अर्पित करूँगा। लोक-रीति से भी "अग्रे अग्रे ब्राह्मणाः" की नीति मान्य है।

१ पं० कृष्णलाल मिश्रः—

आपके भव्य शरीर से 'वागर्थाविव संपृक्तौ' पेन्ट और छकलिया अचकन का बेजोड़ जोड़, गोल मखमली टोपी, आत्म-सन्तोषपूर्ण प्रसन्न वदन, लहराती मूँछें, उन सब के साथ लम्बी डग-भरी दण्डाश्रित व्यालविनिन्दित चाल, आपको तीन लोक से न्यारी छटा प्रदान करती थी। जिस प्रकार ऋषियो की क्रियाएँ फलानुमेया कही गई हैं, उसी प्रकार आपका स्मितहास्य मूँछों की गति से अनुमेय रहता था। आपके पढ़ाने मे बात-बात में रसिकता टपकती थी। आपके वार्तालाप में जीवन के प्रति पूर्ण अनुराग था, लेकिन आप बोलते अंग्रेज़ी में ही थे। आपके अधर पुटों से हिन्दी के शब्द विरले ही अवसरों पर निकला करते थे। हम लोग उन शब्दों को पृथु की भाँति सहस्रकर्ण होकर सुनते थे। पण्डितजी देववाणी को राजभाषा का रूप देने में बड़े सिद्धहस्त थे। अनुवाद मे शब्दों की पुनरावृत्ति बचाने के लिए वे नये-नये प्रकार के वाक्-विन्यास खोज निकालते थे।

पण्डितजी का मुख्य व्यसन वैद्यक है। जब डा० गंगानाथ झा को डी० लिट्० की डिग्री मिली थी तब मैंने कहा था, 'गुरुदेव! आप भी डी० लिट्० ले लीजिए।' 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टा' कह आप मुस्कराये और फिर बड़ी वैराग्य मुद्रा धारण करके कहने लगे, 'All D. Litts must die. My ambi-

tion is to become a good Vaidya' मैंने निवेदन किया, 'अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्।' आपने तुरन्त ही उत्तर दिया कि 'नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे।" इस प्रकार पण्डितजी का घण्टा काव्यशास्त्र—विनोद मे जाता था। जब हम लोगो के वार्तालाप का पारावार पाठ्यविषय की क्षुद्र सीमाओं पर आक्रमण करने लगा तब यह निश्चय हुआ कि संस्कृत मे बातचीत किया करेंगे। इससे स्वयं मितभाषिता आ जायेगी। मुझे अब और तो कुछ याद नहीं रहा, केवल इतना ही याद है कि पाठ खतम होने पर वे कहते थे 'अत्रैव विरामः।' उनका चित्र भी यही विराम लेता है।

२—डबल्यू० टी० मलीगनः—

ये महाशय थे तो विशुद्ध आइरिश, लेकिन इनके मुख-मण्डल तथा हाथो पर भारत की प्रखर सूर्य रश्मियो का प्रभाव अच्छी तरह पड़ा था। जब कभी ये आस्तीने चढ़ाते (लड़ने के लिए नहीं) तो उनके हाथो और बांहो का अन्तर तुरन्त मालूम पड़ने लगता था। उनकी श्वेत बाहुओ मे तांबे के रंग के हाथ ऐसे प्रतीत होते थे मानो किन्ही अश्विनी कुमारों के अवतार ने उनको ऊपर से जोड दिया हो। 'आकार सदृशी प्रज्ञा' के अनुसार जैसा ठोस उनका शरीर था वैसा ही ठोस उनका पाण्डित्य था। वे शब्दो का अर्थ बताने मे उनके बाबा परदादा तक का हाल बखान देते थे। बिना टेन्टेलस की विस्तृत कथा सुनाये Tantalise शब्द का अर्थ न बताते थे। ग्रीक और लेटिन के वे इतने शौकीन थे कि मजिस्ट्रेटी के जीवन में ग्रीक लेटिन का काम न पड़ने के कारण उन्होने उस पद से त्यागपत्र दे दिया था। वे दिन भर मे साइकिल पर मेरठ पहुँच जाते थे। साइकिल पर कभी-कभी वे निद्रा-मग्न भी हो जाते थे और अपने

लक्ष्य को भूल कर किसी दूरस्थ गाँव मे पहुँच जाते थे। उन दिनो मोटरकार का प्रचार न था, इसलिए कोई एक्सीडेन्ट नहीं होता था। इस समाधि-प्रेम का कारण था स्वाध्याय का आधिक्य। वे रात के दो तीन बजे तक पढ़ा करते थे। बीच मे जब निद्रा आती मुगदर की जोड़ी फिरा कर योगमाया को दूर भगा देते थे। वे हन्टले साहब के साथ उस कोठी मे रहते थे जो आजकल हंटले हाउस के नाम से प्रख्यात है। एक बार वे किसी लड़के के लिए सिविलसर्जन को लिवाने गये। निद्रा के आवेग मे शहर से दूर जा पहुँचे और फिर किसी जमीदार की चौपाल मे दुपहरी बिताई। शाम को जब वे डाक्टर को लेकर लौटे तब लड़का टेनिस खेल रहा था।

मलीगन साहब बड़े हास्यप्रिय और वाचाल थे। मै पाठ्य पुस्तक की अपेक्षा उनकी बातो को अधिक महत्व देता था। तर्क शास्त्र का प्रेम मैंने उनसे ही प्राप्त किया था। वे सब चीज की क्रियात्मक व्याख्या अपने टोप से करते थे। कभी वे उसे जहाज मान लेते तो कभी उसे पार्लीमेन्ट का भवन।

मैंने ऐसे गुरुओं की शिक्षा प्राप्त कर परीक्षा की ओर तो कम ध्यान दिया, विज्ञान और दर्शनशास्त्र के बाहरी अध्ययन मे अधिक समय बिताया। इसीलिए मुझे परीक्षा-सागर में गोते खाने पड़े।

३—प्रो० एन० सी० नागः—

यद्यपि मै विज्ञान का विद्यार्थी न था तथापि मै उनसे बहुत प्रभावित था। उनसे गुरु शिष्य का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मैंने उनका फोटोग्राफी क्लास जोइन किया। उनका श्याम वर्ण, छोटा कद, गठा शरीर, फुर्तीली चाल, हंसता हुआ चेहरा, उनको विद्यार्थियों के हृदय में एकदम उच्च स्थान दे देता

था। वे एक चौथियाई बोलते, एक चौथियाई मुस्करा कर हाथ के इशारे करते थे, एक चौथियाई बोर्ड पर लिखते थे और कौशल और हस्तलाघव के साथ आधा प्रयोगात्मक रूप से बतलाते थे। इस प्रकार उनकी बताई हुई बात सवाई समझ मे आती थी। हमारे लाला विश्वम्भरलालजी उन्ही के शिष्य है।

वह समय विशेषीकरण का न था। नाग साहब फिजिक्स और केमिस्ट्री दोनो ही विषय एम० एस० सी० तक पढ़ाते थे। पीछे से फिजिक्स के लिए मिस्टर गुप्ता आये थे। इसके अतिरिक्त वे फोटोग्राफी क्लास लेते थे। वे नये प्रयोग करते (वायरलेस उन दिनो चला ही था) और न जाने क्या क्या नहीं करते थे। एक ग्रामोफोन रेकार्ड बनाई थी, जिसमे उन्होने सब प्रोफेसरो की आवाज भरी थी। एन्ट्रेंस फेल सादिकअली एकमात्र डिमोन्स्ट्रेटर थे और निरक्षर भ ाचार्य वजीरा लेब० असिस्टेन्ट था। जब मैने फोटोग्राफी क्लास छोड़ा तब यह शेर दीवार पर लिख दी थी।

"अलविदा ऐ पाइरो अलविदा अलकली।
अलविदा वजीरा ओ सादिकअली ॥

वे कभी-कभी एक आध लड़के को बांस से पीट भी देते थे रवि बाबू के शब्दो मे हम कह सकते है कि जो प्यार करता है वही पीटने का अधिकारी होता है।

४—मेजर ओडोनैल

ये (अब कर्नल और प्रिन्सीपल मेरठ कालेज) बड़ी सौम्य प्रकृति और स्वतन्त्र विचार के सज्जन है। आप भी आइरिश है और उस समय शायद इसी नाते भारतीय विद्यार्थियो और राजनैतिक समस्याओ से बड़ी सहानुभूति रखते थे। उनकी स्वच्छ रक्ताभ हंसमुख सौम्य आकृति, गोल्ड फ्रेम मे से झाँकती हुई

आँखे की विशिष्ट चितवन विलायत से नौ-वारिद साहब की सिविलियन सजधज, भय और आतङ्क को भगाकर श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न कर देती थी। वे जनरल इङ्गलिश पढ़ाते थे। शायद आइरिश होने के कारण वे शीन के शड़ाके बहुत भरते थे। चपल बुद्धि 'बालक-बर एक सुभाऊ' विद्यार्थियो ने उनका नाम 'शू-शू साहब' रख लिया था। हाज़िरी लेते समय जब वे किसी विद्यार्थी के नाम का कोई अंश उच्चारण नही कर सकते तब वे something कह देते थे; किन्तु एक बार सुमित्रा नन्दन सहाय का नाम पढ़ते समय वे उनके नाम के तीनो भागों का उच्चारण न कर सके और something something something कह गये। लड़के ने तो हाज़िरी बोल दी लेकिन सारे क्लास मे हँसी की लहर दौड़ गई।

ओडोनैल साहब की एक बात ने मुझे अभी तक काम दिया है और शायद आप लोगों को भी याद रहे। वे कम्पोजीशन पढ़ाते समय "उन आइडिया, उन पेरेग्राफ, उन पेरेग्राफ, उन आइडिया" कहते हुए नहीं थकते थे। उनके इस विचार से मेरे लेखों मे सङ्गति की भावना अधिक बढ़ गई है।

५—आचार्य टी० सी० जोन्सः—

आप कालेज के प्रिन्सीपल थे। आपका हृष्ट-पुष्ट लम्बा-तड़ङ्गा फौजी शरीर स्वास्थ्य एवं अधिकारसूचक रक्ताभ वर्ण प्रिन्सनेज चश्मा तथा लार्ड टेनीसन के ब्रुक की सी उमड़ती घुमड़ती, लहराती आवाज विद्यार्थियों में भारी आतंक पैदा कर देती थी। वे मितभाषी थे। उनको केवल पढ़ाने से काम था। परीक्षा-प्रेमी विद्यार्थियों के वे आदर्श गुरु थे। नपे-तुले पेराफ्रेज, टकसाली रुपयों की भांति खनाखन निकलते आते थे। मुझे ऐसे वार्तालाप-प्रेमी 'शनैः कंथा शनैः पंथा' के अनुगामी, ठहर-ठहर

कर पास होने वाले विद्यार्थियो के लिए उनकी पढ़ाई मथुरा के चौबों की भाषा मे सूखी चिनाई सी लगती थी। एक बार मेरा जी ऊब रहा था, मैंने अपने पास के विद्यार्थी से अपनी कापी पर फार्सी मे 'दरसायल चन्द दकीका बाक़ी अन्द (अर्थात् घन्टा बजने में कितने मिनट बाकी हैं) लिखकर पूंछा, जोन्स साहब घूमघूम टहल-टहल कर पढ़ाते थे I slide, I slip, I gloom, I glance का चित्र उपस्थित हो जाता था। इसलिए उनकी दृष्टि सर्वतोमुखी रहती थी। वे चुपके से मेरी कापी उठा ले गये और उस वाक्य को मौलवी साहब से पढ़वाया। फिर उन्होने मुझे वह करारी फटकार लगाई कि आजीवन याद रहेगी It is not conplimentary to a professor to be talking or looking at watches while he is teaching इस पर भी उन्होंने मुझे सार्टीफिकेट बहुत अच्छा दिया था। मुझमे संग्रह-बुद्धि नही है। यदि वह मेरे पास होता तो गर्व से मै आप लोगों को दिखाता।

६—प्रोफेसर चार्ल्स डॉबसन

जब मैं आगरा कालेज में फर्स्टईयर मे पढ़ने के लिए आगरा आया था उस समय तक स्कूल और कालेज के पार्थक्य की भेद-बुद्धि का आरम्भ नहीं हुआ था। चार्ल्स डॉबसन स्कूल के हैड-मास्टर थे और कालेज में भी अध्यापन कार्य करते थे।

उनका मझोला कद, कुछ माँसलता की ओर झुका हुआ मुख-मण्डल, प्रसन्नानन, पूर्णव्यक्त मूँछे और कुछ नीची कलमे, गोल-मटोल सम्पन्नतासूचक खल्वाटोन्मुख शिर जिस पर कभी कभी पुरानी चाल का ऊँचा हैट विभूषित दिखाई देता एक दम विश्वास, निर्भयता, सज्जनता, सौम्यता और पाण्डित्य का अङ्क नवागत विद्यार्थियों के हृदय में जमा लेता था। मै उनके स्पष्ट

उच्चारण से बहुत ही प्रभावित था। एक-एक शब्द मोती-सा गोल स्वच्छ और निश्चित रूप-रेखा-पूर्ण होता जिसके व्यक्तीकरण में भी प्रायः उनके अधर-पुट वतुलाकार हो जाते थे। तर्क-शास्त्र से सम्बन्ध रखने वाला एक नपा-तुला वाक्य अभी तक मेरे कानों मे गूंजा करता है। 'Science teaches us to know. Art teaches us to do. Science is systematised knowledge. Art is systematised action.'

स्कूल और कालेज का पार्थक्य हो जाने पर भी मैं अक्सर अपने फिलासफी के गुरुदेव राजूसाहब के साथ उनके बंगले पर जाया करता था और धार्मिक, दार्शनिक और राजनीतिक विषयों के गम्भीर अध्ययन और उदार दृष्टिकोण का परिचय पाता था। उनसे सम्बन्धित अपने जीवन की एक बात न भूलूँगा। उनके यहाँ कोई मीटिङ्ग थी। भेष-भूषा के सम्बन्ध में मै प्रायः उदासीन रहा हूँ। लेकिन उन दिनों मैं एम० ए० का विद्यार्थी था। अपने गुरुदेव की देखा-देखी एक काला कोट भी बनवा लिया था, उससे सुसज्जित हो पहली बार ही लेम्प लगा कर साईकिल पर यात्रा की थी। रास्ते में ऊँची चढ़ाई थी। वह मेरे लिए माउन्ट एवरेस्ट की चढ़ाई से कम न थी वास्तव मे वह मेरे लिए uphill task हो गया। उतरता इसलिए न था कि फिर चढ़ने मे दिक्कत होगी और पैदल इसलिए नही चलता था कि समय की पाबन्दी न हो सकेगी। लम्प भी रात मे ताजगंज की वर्ल्ड फेम (World fame) की गजक विक्रेता खोमचे वालों की मिट्टी के तेल की कुप्पी से स्पर्धा कर रही थी। वह लम्प जिसको शुद्ध हिन्दी मे दीप-मन्दिर कहूँगा एक साथ नासिका और नेत्रो को प्रभावित कर रहा था। रात्रि का समय था और सड़क भी निर्जन-प्राय थी। न कोई मेरी दुर्गति देखने वाला था और न कोई सड़क पर टकराने वाला, यदि होता भी तो मैं घंटी

का काम मुंह से लेता। बँगले पर पहुँच कर विश्राम मिला। लौटा मे गुरुदेव के साथ पैदल। यह थी मेरा साइक्लिङ्ग की सब से वड़ी तो नहीं उससे कुछ कम सफलता। सब से बड़ी सफलता उस दिन हुई थी जब कि मै अपने मित्र लाला कृष्णलाल (दहलवी) के निमंत्रण पर कैलाश मे रामगुफा के उद्घाटनोत्सव की दावत खाने चार और विद्यार्थियों के साथ गया था। लौटा मैं उनकी विक्टोरिया मे। साइकिल एक और विद्यार्थी को दे दी थी। यह सफलता या विफलता शायद इसीलिए हुई थी कि मुझे अपनी निजी साइकिल रखने का कभी सौभाग्य न हुआ था यद्यपि चाँदनी रात मे साइकिल दौड़ाने की बात मेरे सुख-स्वप्नो मे से थी।

इस विषयान्तर को पाठक क्षमा करेंगे।

७—प्रोफेसर वैनीमाधव सरकार

जब मैंने पहली बार फर्स्ट आर्टस की परीक्षा दी थी उस समय आर्ट्स कोर्स में गणित-शास्त्र का भी अध्ययन करना पड़ता था। गणित शास्त्र मेरी अभिरुचि का विषय न था। न जाने कौनसे धान गङ्गा में बोये थे जिसके पुण्य-प्रताप से पहली ही बार गणित लेकर एंट्रेंस में उत्तीर्ण हो गया था। एफ० ए० के गणित से सोलिड ज्योमेट्री कुछ रुचिकर थी क्योंकि उसमें कल्पना की व्यायाम के लिए स्थान अधिक रहता। प्रोफेसर सरकार का एक निजी व्यक्तित्व था। कुछ स्थूलकाय मझोला कद और चहरे पर भरी हुई डाढ़ी एकदम उन्हे भव्यता प्रदान करती थी। उन्होंने क्या पढ़ाया और क्या नही पढ़ाया इसकी तो मुझे कुछ याद नहीं। इसमे उनका दोप नहीं, मेरी रुचि ही का दोप था किन्तु वे थे वड़े नीति-निपुण और खरे समालोचक। कालेज की पोलिटिक्स यदि कहीं सुनने मे आती थी तो उनके क्लास में।

उनके व्यङ्ग्यबाण बड़े तीखे होते थे, वैसे ही उनकी दृष्टि भी तीव्र थी। कोई विद्यार्थी धोखा देने का साहस नहीं कर सकता था। यदि कोई विद्यार्थी पाँच मिनिट भी लेट आता तो वे फौरन कह देते Please make yourself comfortable elsewhere' अर्थात् 'कहीं अन्यत्र आराम कीजिए' वे लड़कों का मजाक बनाना भी खूब जानते थे। यदि कोई लड़का कहता कि उत्तर करीब-करीब आ गया है तो वे कहते, 'क्या ऐसा कि दस उत्तर है तो नौ आ गया है?' कभी-कभी लड़के भी हाजिर जवाबी मे उनसे आगे निकल जाते थे। एक बार उन्होंने एक लड़के से कहा कि आजकल घोड़े भी सही-सही सवाल निकाल लेते है तो उसने तुरन्त उत्तर दिया कि साहब उनमें किसी गणितज्ञ की रूह आ जाती होगी।

अपने विषय के वे पूरे पण्डित थे। यह मेरा दुर्भाग्य है कि मैं उनसे कुछ सीख न सका। सदाशय और सद्भावना की मूर्ति थे। वे बादाम की भाँति ऊपर से कठोर और हृदय से कोमल थे। पुरुष-परीक्षा में वे सिद्धहस्त थे। एक बार उनके घर जाते समय मेरे मित्र बाबू कृष्णलाल के नौकर कालू ने बादामो की ठण्डाई के धोखे मे भाँग पिलादी। बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं अपनी बातो की असंगति न छिपा सका। वे तुरन्त ताड़ गये और कहने लगे 'बोर्डिङ्गहाउस जाइए आराम कीजिए'। दिल्ली दरवाजे के प्रसिद्ध होमियोपैथ डाक्टर सरकार उन्हीं के सुपुत्र है।

८—प्रोफेसर जोन बँगारू राजू

मेरी जीवन-नौका को यदि एक विशेष दिशा में ले जाने का श्रेय किसी गुरु को दिया जा सकता है तो राजू साहब को। उन्ही के प्रतिभापूर्ण सौजन्य के कारण मै सेन्टजान्स कालेज मे फिलासफी के लेक्चर निष्शुल्क सुनता था। विशप डरन्ट के

उदारतापूर्ण आग्रह से मेरी फीस इम्तहान मे भेजी गई और पितृदेव की बेवसी की दी हुई आज्ञा पाकर मैंने लॉ की सफलता का बलिदान किया और प्रिवियस एम० ए० पास कर कालेज में प्रोफेसर बना। यदि मै राजू साहब के सम्पर्क मे न आता तो मै न्याय-विभाग का उच्च अधिकारी अवश्य होता किन्तु लेखक, दार्शनिक और उसके फलस्वरूप छतरपुर राज्य का प्राइवेट सैक्रेटरी होने का गौरव न प्राप्त करता। उनकी बदौलत मेरी जीवन-वृत्ति का काव्य 'अर्थकृते' न बन कर 'यशसे' अधिक रहा।

मेरे गुरुदेव प्रलम्बता की मूर्ति थे। उनकी शरीर-यष्टिका की लम्बाई को उनके दुबलेपन ने और चहरे की लम्बाई को पुच्छाकार डाढ़ी ने निखार मे ला दिया था। उनको अपनी डाढ़ी पर गर्व था। उन्होने ऑक्सफोर्ड मे भी जो मुछमुण्डता का गढ़ है उसकी इज्जत कायम रखने का साहस किया था। यदि कभी विद्यार्थीगण उसके विदा करने का आग्रह करते तो वे कह देते कि जिसको किंग जोर्ज ने अपनाया है उसे किस प्रकार हेय कह सकते हो। उनके मुखारबिन्द ने अपने प्रेमी भ्रमर की ईषत अनुरूपता धारण करली थी और उसे केशो के साथ कम्पिटीशन मे केवल एक-चौथाई नम्बरो से हार मानना पडती थी। उनका अलपका का कोट उनके शरीर के वातावरण मे साम्य-सा उपस्थित कर देता था। उनके ललाट और मुख-मण्डल की भावानुरूप तीव्र गति से बदलने वाली रेखाएँ उस साम्य मे एक सुखद वैषम्य उपस्थित कर देती थीं। व्याख्यान देते समय उनकी शरीर-यष्टिका वेत्रलता के समान आगे-पीछे को लहराती, उनकी पदगति ताल का काम देती और उनकी यक्ष की-सी लम्बी उँगलियाँ अधरपुटो के साथ नृत्य करतीं। उनकी आँखो मे एक विशेष दीप्ति थी जो श्रोता को अपनी सम्मोहनकला द्वारा मंत्र-मुग्ध कर देती थी। उनके वार्तालाप मे उनका शरीर नहीं बोलता

था वरन् आत्मा बोलती थी। श्रद्धा और विश्वास की वे मूर्ति थे। भावुकता वर्षाकालीन नदी के जल की भांति उनके सारे शरीर से उमड़ी पडती थी। साधारण-सी बात में रहस्य और आद्भुत्य उत्पन्न कर देना उनके लिए सहज सम्भाव्य था।

उनका झुकाव रोमन केथोलिसिज्म की ओर था। विचारों की निर्भीकता उनकी विशेषता थी। यद्यपि उनके साधारण वार्तालाप मे चाटुकारिता का पुट रहता था तथापि वे अपने सिद्धान्तों में दृढ़ थे। नित्य नयी दार्शनिक और सामाजिक समस्याओं का उद्‌घाटन करना उनकी प्रखर प्रतिभा का परिचायक था। मेरे प्रारम्भिक लेखो मे उनके ही विचारो का अधिक अवतरण रहता था। उनके जीवन मे बुद्धिवाद और भावुकता का विशेष समन्वय था। कोई बड़ा-से-बड़ा विषय न था जिसकी वे धज्जी न उडा देते हो और कोई छोटी-से-छोटी बात न थी जिसको वे महत्ता न दे सकते हो। अंग्रेजी सभ्यता के वे घोर प्रशंसक होते हुए भी उन्हें अपनी भारतीयता का गर्व था और अंग्रेज जाति के दोषों के उद्‌घाटन मे भी वे नहीं चूकते थे। इस-लिए कुछ लोग तो उनकी सचाई मे भी शङ्का करते थे। 'निन्दन्ति नीति निपुणाः यदि वा स्तवन्तु' इसकी उनको परवाह न थी वे अपने सिद्धान्तों मे अटल थे। दार्शनिक होते हुए भी उनमें सौन्दर्योपासना भी काफी थी। एक इटालियन रमणी की तारीफ करते हुए उन्होंने जो शब्द कहे थे वे मुझे अब तक याद है—'She walked not but danced, she spoke not but sang' मै अपने उत्तरकालीन जीवन मे भी उनसे दिल्ली में मिला हूँ लेकिन उनकी छाप जो मेरे विद्यार्थी हृदय पर पड़ी थी वह अक्षुण्ण है। मुझे दुःख है कि आजकल वे कुछ कठिनाई मे हैं किन्तु 'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषं।'

६—डाक्टर हंटले

मै डाक्टर हंटले के ही कारण सेन्टजान्स कालेज के संपर्क में आया था। मैंने पढ़ाई की मञ्जिल सुस्ता-सुस्ता कर तय की थी। मै बी० ए० मे संस्कृत मे फेल हो गया था। इसीलिए अब उस हीनता-भाव को दूर करने के लिए अपने लेखों मे संस्कृत अधिक बघारता हूँ। प्रोफेसर मलिगन के देहावसान हो जाने के कारण आगरा कालेज मे फिलासफी का कोई प्रबन्ध न था। मै अपने शिकारपुरी मित्र के साथ हंटले साहब के पास फिलासफी के अध्ययन के लिए सेन्ट जॉन्स कालेज जाया करता था।

हंटले साहब और मलीगन साहब दोनों एक ही बंगले में जो अब हंटले होस्टल के नाम से प्रख्यात है, रहते थे। हंटले साहब पूरे स्कॉच थे, मलीगन साहब पूरे आइरिश, जोन्स साहब अङ्गरेज थे इसलिए मै विद्यार्थी जीवन में पूरे ब्रिटिश आइल्स की मनोवृत्ति से परिचित हो गया था।

हंटले साहब की प्रतिभा वास्तव मे बहुमुखी थी। ऐसा कोई विषय न था जिसको वे पढ़ा न सकते हो। एम० ए० को अंग्रेजी पढ़ाते थे, बी० ए० को फिलासफी पढ़ाते, कभी-कभी मैथेमेटिक्स का भी क्लास ले लेते और केमिस्ट्री क्लास के विद्यार्थियो को अपनी प्रतिभा से प्रभावित कर आते थे। बी० एस० सी० में बाइलोजी खुलवाने का श्रेय उन्ही को है। मैडीकैल स्कूल में एनाटमी (Anatomy) पढ़ाते और कालेज होस्टलो के मैडीकैल आफीसर भी थे। छावनी मे जाकर घंघरिया पल्टन के (High Landers) को गिरजे में उपदेश देते और शायद जनता में भी ईसाई धर्म का प्रचार करते थे। दो एक बार उनकी दवाइयो से मैंने भी स्वास्थ्य-लाभ किया था। एक बार नमूने में आई हुई फैलोससिरप की शीशी उन्होने मुझे दी थी। भेष-भूषा

मे वे इकता थ। उनकी भेष-भूषा देख कर मैं भी आत्मग्लानि से बच जाया करता था। यद्यपि जूतो की सफाई मे मुझे उनसे लज्जित होना पड़ता था क्योकि मै प्रायः किरमिच के सस्ते जूते पहना करता था जो शीघ्र ही मेरी गरीबी का परिचय देने लगते थे। मै गरीब था ही और अपनी अस्त-व्यस्तता के कारण गरीबी का प्रदर्शन भी करता दिखाई देता था। यद्यपि वैभव-प्रदर्शन का वैज्ञानिक अध्ययन किया है—तथापि उसके व्यावहारिक पहलू से मै अछूता रहा हूँ। कभी-कभी पांडित्य-प्रदर्शन कर लोगो को अवश्य धोखे मे डाला है जिसके लिए मुझे हार्दिक खेद है। हंटले साहब गर्मियो मे सफेद या खाकी जीन पहनते थे। और जाड़ों मे होमस्पन ट्वीड (हाथ के कते का मान विलायत मे भी था) जिसमे कभी-कभी छिद्र भी दिखाई देने लगते थे उनके परिधान की सामग्री थी। खुले गले का कोट उसके नीचे घुटनो पर बटन लगने वाली ब्रीचेज या नीकरवुकर ऊनी मोजे, काला जूता और सर पर कभी-कभी सोला और कभी बूअर हैट-सा शोभायमान होता था। कुछ-कुछ झुर्री पड़ा हुआ सदा प्रसन्न चहरा जिसमें एक दांत कुछ बाहर को आने के उद्योग में रहता था और भूरी डाढ़ी उनकी शीघ्र पहचान करा देती थी। उन दिनो डाढ़ी सम्प्रदाय का जोर था खेद है अब हमारे विनम्र प्रिन्सीपल टी०डी० सली ही उसके एकमात्र प्रतिनिधि है। उनकी गर्दन मे एक झोला भी रहता था जिसमे छिपकली, केंचुए, मेढक न जाने क्या-क्या रहता था। कभी-कभी उसमे डबल रोटी भी रख लेते थे। उनकी ऐसी ही वेषभूषा देख कर पिछले महायुद्ध मे टूँडला की रेलवे पुलिस ने एक बार उनको जासूस समझ कर आगरा जाने से रोक लिया था। उनके हृदय मे विद्यार्थियो के प्रति सच्चा दयाभाव रहता था। यदि कोई लड़का गलती करता तो उसकी वे पीठ ठोकते और कहते *My boy I*

am glad you have committed this mistake here now you are saved from committing it in the examination Hall",'one might say' उनका तकिया कलाम था वे । उर्दू शब्द 'महज' के बड़े प्रशंसक थे उनके मत से वह कि अङ्गरेजी शब्द Mere से अधिक भाव-व्यञ्जक है । व्याख्यान देते समय वे केवल एक Lads का सम्बोधन जानते थे चाहे कमिश्नर साहब बैठे हो चाहे गवर्नर, वे वार्तालाप मे बड़े निर्भीक और हास्य-प्रिय थे । बाइलोजी के एफिलिएशन के लिए जब (Inspector) लोग आये और उन्होने पूछा कि 'Well doctor where is your laboratory' तब उन्होने एक लड़के की बांह पकड़ कर कहा 'Human body is the best Biological Laboratory. फिर जरा देख कर कहने लगे कि 'For Zoology I take my students to the Medical School and for Botany I take them to the Taj gardens. Can you find better Laboratories than those.'

वे जब, कभी-कभी मेरे यहां खाना खाने आते तो अपनी बची हुई मिठाई कागज मे लपेट कर घर ले जाते । कहा करते थे कि 'Mem sahib will like it' ऐसा निजी सम्पर्क रखने वाले प्रोफेसरो के चरणो मे बैठ कर ही मै कुछ सीख सका हूॅ ।

१०—इरिक ड्रू

राजूसाहब के अध्ययन जब अर्थ विलायत चले गये तब ड्रू साहब जो उनके गुरु थे मद्रास से आगरा आये । उनके हुलिया मे विशेष विशेपता न थी । कद कुछ नाटेपन की ओर झुका हुआ था और शरीर मे कुछ स्थूलता आ चली थी । उनकी दार्शनिकता, उनकी बढ़ी हुई भोहो, छोटी ऑखो और ईषत

लम्बी नाक से लक्षित होती थी। उनके बोलने मे एक विशेष गति थी, वे अखीर शब्द को कुछ अधिक खींच देते थे जिससे उसकी आवाज देर तक घटे की टंकार की तरह ध्वनित होती रहती थी। बर्गसन का उनका विशेष अध्ययन था और शरीर के स्नायुसंस्थान (Nervous system) की व्याख्या करने मे उनकी विशेष रुचि थी। बोर्ड पर रङ्गीन डायाग्राम बनाने में वे बड़े पटु थे। जब वे कहा करते थे कि nervous system is the most interesting thing in the world' तब हम लोगो की हँसी आदरभाव पर विजय पाकर दबे हुए होठो से भी बाहर आ जाती थी। जब वे एक बार पहाड़ पर सैर को गये थे तो उनकी मेमसाहब ने उनकी सब से बड़ी तारीफ की बात यह लिखी थी 'Not a word of Psychology escaped his mouth, कालेज के सीमित घंटों से उन्हे सन्तोष न होता था। वे एम० ए० क्लास को तो अपने बङ्गले पर ही पढ़ाना पसन्द करते थे और जब वे अपने विद्यार्थियों को दूर से आते हुए देखते थे तभी वे 'भ्रू पर पानि' हो अधीर हो उठते थे। वे इतना भी विलम्ब नहीं सह सकते थे कि लड़के जरा घूम कर सदर दरवाजे से आयें। वे चिल्ला उठते थे 'come up men jump up boys' मानो घर में आग लगी हो। कॉट को उन्होंने बड़ी रुचि के साथ पढ़ाया था। कभी-कभी जब कोई बात समझ में नहीं आती थी तब बड़ी-बड़ी जल्दी बरबराने लगते थे 'I donot know whether the confusion is in my mind or in the mind of that Saddlers' son (कॉट चमड़े की कॉठी बनाने वाले का लड़का था) जब वे हमको सिगवर्ट लोजिक पढ़ाते तब वे अपनी मेमसाहब को पास बिठाल लेते और उसमें जो जर्मन शब्द आते उनका उच्चारण और उनकी व्याख्या उनसे कराते। राजू साहब की प्रतिभा बिजली के समान थी जो एक

क्षण मे ही प्रकाश कर देना चाहती थी और इनकी प्रतिभा स्थिर-शान्त पूजा के दीपक की भाँति थी। वे अध्ययन मे short cuts के कायल न थे। ठोस अध्ययन का अभ्यास मुझे उन्ही के साथ पढ़ने से हुआ, फिर भी आरामतलबी ने इस अभ्यास को बढ़ने नही दिया। उनका देहावसान आगरे मे ही हुआ था और उनका शरीर आगरा सिमेट्री की चिरशान्ति मे शयन कर रहा है।

सेवा के पथ पर

(मेरा दरबार-प्रवेश)

यद्यपि मै परीक्षाओ के सम्बन्ध मे 'शनैः विद्या वित्तञ्च' के सिद्धान्त मे विश्वास करता था और अपने विषयों के विशेष अध्ययन के लिए अतिरिक्त मास की भाँति कॉलेज मे भी एक अधिक वर्ष देना श्रेयस्कर समझता था तथापि इस नियम के अपवाद स्वरूप (क्योंकि प्रत्येक नियम का अपवाद होता है) मैंने फिलासफी के एम० ए० के सम्बन्ध मे अपने नियम को कुछ शिथिल कर दिया था और कॉलेज मे अध्यापकी करते हुए भी परीक्षा में इस प्रकार उत्तीर्ण हो गया जिस प्रकार कि हरि-भक्त भवसागर को गोपद इव सहज ही पार कर जाते हैं।

वह समय उत्पादन-बाहुल्य (Mass Production) का न था। उन दिनो विवाह की कचौड़ियो अथवा फोर्ड कार की मोटरों की तरह एम० ए० वालों के थान-के-थान नहीं उतरते थे। 'सिहन के लेंहड़े नहीं साधु न चले जमात', प्रयाग विश्व-विद्यालय से जिसके विराट उदर से अब चार और विश्व-विद्यालय उत्पन्न हो गये है, केवल छः विद्यार्थी दर्शन शास्त्र के एम० ए० मे बैठे थे, उनमें से केवल दो उत्तीर्ण हुए थे। इस

प्रकार मै थर्ड क्लास फर्स्ट नहीं हाँ, थर्ड-क्लास-सेकिन्ड अवश्य था। इसके लिए मैं गंगा-तुलसी उठा सकता हूँ, काशी तक शास्त्रार्थ के लिए तय्यार हूँ और यदि धन की पर्याप्त सहायता मिल जाय तो प्रिवी काउन्सिल या फीडरेल कोर्ट तक मुकद्दमा लड़ने का साहस रखता हूँ।

कॉलेज मे एक साल प्रोफेसरी कर मै अपना हक जमा चुका था। उस पद पर मै बना भी रहता क्योकि उन दिनो एम० ए० बरसाती मेंढको की भाँति गली-गली नही मिलते थे। फर्स्ट या सेकिंड डिवीजन की कोई पाबन्दी न थी। यदि कोई डिवीजन की बात पूछता तो मै अपने शिकारपुरी मित्र की भाँति कह देता लियाकत देखिए। कॉलेज की नौकरी लोमडी के अंगूरो की भाँति अप्राप्य न थी, किन्तु उसमे एक बड़ी बाधा यह थी कि मुझ मे तुलसीदासजी की-सी अनन्यता का अभाव था। मै दो नावो मे पैर रखना चाहता था। एम० ए० के साथ तीन अक्षर और जोड़ने का मोह संवरण नही कर सकता था।

मै इस महत्वाकांक्षा को 'कीर के कागर लौं' छोड़ भी देता क्योंकि दर्शन-शास्त्र का विद्यार्थी होकर त्याग की क्रियात्मक परीक्षा मे किसी से पीछे नही रहना चाहता था, किन्तु मेरे पूज्य पितृ-चरणो ने 'कचं केशं हरतीति कचहरी' नाम की जिस संस्था में बाल सफेद किये थे उसके परम्परागत आदर्शों के अनुकूल एल्-एल्० बी० के बिना मेरा अध्ययन उतना ही अपूर्ण रह जाता जितना कि दक्षिणा के बिना दान। एम० ए० के चक्कर मे मेरी कानूनी नैया डूब चुकी थी। परमात्मा भी मेरा बेड़ा पार न लगा सका। मै प्रिवीयस मे फेल होने का अस्पृहरणीय गौरव प्राप्त कर चुका था। उसका इम्तहान तो बिना कॉलेज एटेन्ड किये (लेकचर तो मै पहले भी एटेन्ड नही करता था) ही दे सकता था। सेन्ट जान्स कालेज के अधिकारी-वर्ग ईसाई होने

के कारण बाईगेमी (दो विवाहो की प्रथा) के खिलाफ थे। उनकी दृष्टि मे दर्शन-शास्त्र के प्रोफेसर के लिए कानून की ओर दृष्टिपात करना उतना ही पाप था जितना कि एक स्त्री के होते हुये दूसरा विवाह करना। अतएव सेन्ट जान्स कॉलेज से मुझे विदा लेनी पड़ी।

एक साल के अनुभवी कानूनी विद्यार्थी बेकार कम बैठा करते है। कानून का पास करना तब और शायद अब भी अनन्य उपासना का विषय नही समझा जाता था। दूसरी साल पास तो हो ही जायँगे! 'बासी मे क्या खुदा का साझा ?' फिर स्वावलम्बी होने का सुख और गौरव क्यो छोड़ा जाय।

कानून के विद्यार्थी दूसरो की वकालत करना अपना न्याय-सिद्ध अधिकार समझते है, फिर भस्मासुर की भाँति इस अधिकार को भोलानाथ सदृश वयोवृद्ध गुरुदेव श्री नीलमणि दर पर क्यो न अजमाया जाय ?

उस स्वतन्त्रता के युग मे विद्यार्थीगण हाजिरी के मामले मे सत्य के साक्षात् अवतार अदालती गवाह से, जो सत्य, पूर्ण सत्य और सत्य के अतिरिक्त और कुछ नही बोलते, कम सत्यपरायण नहीं होते थे। जिस रोज फीस दी जाती थी उसी रोज रजिस्टर में नाम लिखा जाता था। मुझ जैसे आलस्य-भक्त विद्यार्थी, जो गप्पो मे रम जाना ही अपने जीवन का परम लक्ष्य समझते थे, बीस तारीख से पहले फीस नहीं देते थे क्योकि वही फीस दाखिल करने की अन्तिम तिथि थी। प्रोफेसर महोदय रजिस्टर मे निगाह गड़ाये हुये पूछते 'Were you present all the days ?" अर्थात् क्या आप पूरे दिनों उपस्थित रहे तो विद्यार्थी भी सज्जनो की-सी अधो-दृष्टि किये बड़े उपेक्षा भाव से कह देते 'Yes Sir' और कभी यदि सचाई का अधिक परिचय देना हुआ तो कह देते कि Except the 5th (पाँचवी के सिवाय)।

इसके अतिरिक्त कभी-कभी वकालत का भी अभ्यास कर लिया जाता था। आजकल की सभ्यता मे जब सभी कार्य प्रतिनिधियो द्वारा होते हैं, कानून प्रजा के प्रतिनिधि बनाते है, उसकी स्वीकृति बादशाह के प्रतिनिधि देते है, और उसकी व्याख्या वादी-प्रतिवादी के प्रतिनिधि वकील करते है, हिन्दुओं में विवाह जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण अवसर पर किये हुये जीवन भर पाले जाने वाले वायदो से लगा कर जन्म-मरण सम्बन्धी सभी संस्कार पूरियो से हित रखने वाले पुरोहित ही करते हैं, अग्रेज लोग हाथो से न खाकर उनके प्रतिनिधि छुरी कॉटो द्वारा-ही भोजन अपने गले के नीचे उतारते है, तब बेचारी कॉलेज की हाजिरी की क्या बात ? वहाँ भी प्रोक्सी 'Proxy' क्यो न हो ? येनकेन प्रकारेण पास होने का तो नही इम्तहान मे शामिल होने का वैधानिक अधिकार मिल ही जाता।

कानून महासागर मे उत्तीर्ण होने के लिए सायं-प्रातः भक्ति-पूर्वक 'शीन्स गाइड' का पाठ करना सत्यनारायण की कथा से भी सुलभ उपाय था। उसके पाठ से 'परीक्षार्थी लभते डिगरीम्' की बात सिद्ध हो जाती थी। फिर फेल हुआ कानून का विद्यार्थी क्यो बेकार बैठे ? 'बेकार मुबाश कुछ किया कर, कुछ न हो तो जूतियां सिया कर।'

मै भी नौकरी की चाह में डाकखाने की आमदनी बढ़ाने में योग देने लगा किन्तु रियासत की नौकरी मेरी गरुड़गतिगामिनी कल्पना और उच्छृङ्खलतम स्वप्नो की दूरातिदूर सीमाओ से भी परे थी। "मेरे मन कछु और है विधिना के कछु और" की बात थी और विधिना मुझ से कुछ अधिक विचारशील थे। इसलिए यन्त्रारूढ़ की भाँति (भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया) मै भी उनका इच्छानुवर्ती हो नाचने लगा (उमा दारु योषित की नाई। सबै नचावे राम गुसाई)। मै उसी दैवी प्रेरणा के वश बिना

किसी रोग के भी डाक्टर तृषार्तनाथ सिंह से मिलने अस्पताल पहुँच गया। डाकृर साहब बड़े लोकप्रिय थे और न वे प्राणों के हर्ता थे और न धन के। वे सेवाभाव से अपने कार्य को करते थे। उनके दर्शन करना मै देवदर्शन से कम नहीं समझता था। संयोगवश डाक्टर साहब राउन्ड पर गये थे। उनकी मेज पर अधिकारी वर्ग मे साम्मान्य 'पायोनियर' सुशोभित था। हम गरीब लोगों को 'पायोनियर' देखना इतना ही दुर्लभ था जितना कि अमीर आदमी का स्वर्ग मे जाना क्योकि उसका चन्दा ४८) रु० साल था। मै कौतूहलवश पायोनियर के पन्ने उलटने लगा। उसमें छतरपुर राज्य के लिए दर्शन-शास्त्र के एक ऐसे अध्यापक की मॉग थी जो पूर्वीय और पश्चिमी दर्शनो में दक्ष (Well-versed) हो। पश्चिमी दर्शन मे तो मै अपने को दक्ष कह सकता था क्योकि घर के नाई से भी अधिक मौतबिर विश्वविद्यालय का पट्टा (प्रमाण पत्र) मेरे पास था किंतु पूर्वी दर्शनो के काले अक्षर मेरे लिए भैंस बराबर थे। पीछे से उसी अज्ञान के आधार पर भैंस का दूध पीने को मिला।

मुझे एक बार इनाम मे आगरा कालेज से मेक्समूलर की 'सिक्स सिस्टिम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी' मिल चुकी थी। उससे केवल इतना ही काम लेता था कि लोग उसको मेज पर देख कर जान ले कि मै इनाम पाने वाले विद्यार्थियो की गणना में हूँ। उसके पन्ने मै कभी-कभी पलट लेता था और शायद छओ दर्शनों के नाम मेरे स्मृति-पटल पर अंकित हो चुके थे। एक बार काशीपुरी मे कीन्स कालेज के प्रिंसिपल डाक्टर वीनिस से मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनकी निगाह मे एक सदाशय और श्रद्धालु विद्यार्थी जॅचने तथा उनको गुरु मानने का गौरव देने के लिए मैने उनसे सलाह ली थी कि हिन्दू-दर्शनो के विधिवत् अध्य-

-यन के लिए पहले कौन-सी किताब पढ़ना चाहिए। उनके मुखार-विन्द से निकला था अन्नंभट्ट का 'तर्क-सग्रह'। मैने उनके शब्दों को उसी श्रद्धा से हृदयंगत कर लिया जैसे कि महात्मा कबीर ने स्वामी रामनन्द के मुख से निकले हुए राम शब्द को। मुझ मे उस समय न इतनी बुद्धि थी और न सावधानी कि उनसे पूछता 'तार पर' अर्थात् उसके बाद क्या ? यद्यपि मै स्वयंपाकी (स्वयं पापी नही) ब्राह्मण न था जो रोटी पकाने के लिए आग पर्वत पर ढूढ़ता फिरता तो भी मैने 'पर्वतो वह्निमान धूमात्' का पाठ याद कर लिया था। पिताजी के मुख से 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय' वाला श्लोक कई बार सुना था। यह शायद श्रद्धालु भक्त के लिए 'भग्वद्गीता किंचिदधीता गंगाजललवकणिकापीता' के अनुसार भवसागर पार होने के लिए पर्याप्त होता किन्तु दर्शन शास्त्र के पण्डित कहलाने के लिए काफी न था। यह कुछ प्रेम का ढाई अक्षर तो था नही जो मुझे पण्डित बना देता।

फिर निराशा क्यो ? का भावी लेखक होता हुआ भी मुझ मे आशावाद अन्धसाहस की मात्रा तक नही पहुँचा था। मे अपनी न्यूनताओ को कभी भूलता नही हूँ। उस मानसिक साज-सामान के आधार पर उस गौरवपूर्ण स्थान को प्राप्त करने की आशा करना तो क्या उसके लिए अर्जी भी भेजना मै इतना हास्यास्पद समझता था जितना कि ऊँचे पेड़ से फल तोड़ने के लिए किसी बौने का हाथ पसारना (प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिव वामनः) मै यह तब नही जानता था कि छतरपुर किस भूभाग मे अव-स्थित है। मै समझता था हो न हो शायद राजपूताने मे होगा। 'किमतः परं अज्ञानं !' परलोक मे विचरने वाले दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी को इस दुनिया की बातो से क्या काम ? फिर भी डा० महोदय के प्रोत्साहन मे आकर मैने अर्जी भेज ही दी। 'अहो मूढ़ता या मन की।' मैं समझता हूँ कि बाबा तुलसीदासजी को

भी मधुमेह था इसीलिए थामनः (जामन) पुकारा करते थे।

मैं तो अर्जी देकर उसे ऐसे भूल गया जैसे सज्जन लोग अपने किए हुए उपकार को अथवा दूसरे के किये हुए अपकार को लेकिन समय पाकर कर्म अपना फल देते ही है। एक महीने पश्चात मुझे छतरपुर के प्राइवेट सेक्रेटरी का पत्र मिला। लिफाफा देखते ही उसका मजमून मेरे मानसिक क्षितिज मे बिजली की तरह चमक उठा। मैंने समझा कि मेरा भाग्य जागा, डाक्टर रूपी देवता के दर्शन का फल मिल गया। लिफाफा खोलने पर अनुमान ठीक निकला। उस पत्र मे उन्होने पूछा था कि मैंने उनके पहले पत्र का उत्तर क्यो नही दिया। महाराज साहब मुझ से मिलने के लिए उत्सुक है। सेक्रेटरी साहब ने छतरपुर का रेल मार्ग बतला देने की कृपा कर दी थी, नही तो मुझे दो-चार आदमियो के सामने अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना पड़ता।

सम्भव है कि उन्होने उल्लिखित पहला पत्र लिखा हो और ऐसा भी संभव हो सकता है कि जैसा पीछे से मैं स्वयं प्राइवेट सेक्रेटरी होकर करने लग गया था कि यदि महाराज साहब किसी मुझ जैसे थर्ड क्लास आदमी * को बुलाने के लिए कहते तो मै

---

* हमें ठीक मालूम है, 'उग्रजी' को तो एक बार ऐसे अधिकारियों ने निमन्त्रण भेज भी दिया था मगर उनका उत्तर जिसमें उन्होंने महाराजा से मिलना अस्वीकार करते हुए भर्तृहरि का यह श्लोक लिखा था कि—"न नटा विटा न गायका नच सभ्येतरवाद चञ्चवः, नृप सद्मनिनाम के वयं कुचभारोन्नमिता न योषिता"—मगर यह उत्तर मारे भय के छतरपुर राज्य के अधिकारी महाराजा के सामने न रख सके। कह दिया—"उत्तर ही नहीं आया" इसके बाद राजाने पुन. विवश किया उन्हे पत्र व्यवहार करने को और उन लोगों ने माफिया माँग-माँग कर 'उग्रजी' से एक नम्र और सीधा पत्र राजा के लिए प्राप्त किया।

—वीणा सम्पादक

उनकी आज्ञा की अवहेलना कर जाता और महाराज के दुबारा कहने पर ही पत्र लिखता और उसमे संकल्पित या कल्पित पहले पत्र का उल्लेख कर देता ।

छतरपुर जाने की तैयारी होने लगी । मेरे पितृदेव ने मेरे भविष्य को देदीप्यमान देखने की शुभाकांक्षा से मेरी तैयारी में खूब दिलचस्पी ली । उन्होने एक रियासती सज्जन से पूछ कर मेरे लिए कुछ हिदायते लिख दीं । उनको मुझे वेद-वाक्यो से भी अधिक महत्व देना पड़ा । वेषभूषा और ठाट-बाट के ऊपर भी एक बड़ा नोट था । अचकन और चूड़ीदार पायजामा के अतिरिक्त उसमे चॉदी की मूॅठ की छडी और पम्प शू पहनने तथा साफा बॉधने की हिदायत भी दी थी । बिना नौकरी के बन्धन मे पड़े मैने साफा बॉधना तो कष्ट कर समझा, किन्तु पम्प शू अवश्य खरीद लिया । सादा जीवन तथा मितव्ययिता के निरन्तर उपदेष्टा मेरे पूज्य पितृ-देव ने पेटेएट लेदर के पम्प शू खरीदने की सहर्ष अनुमति दे दी । पम्प शू वहॉ खूब काम आया क्योकि महल मे जूते उतार कर जाना पडता था । भव्यता की कमी पूरी करने के लिए मेरे साथ एक नौकर भी कर दिया गया ।

अलमति विस्तरेण । किस्सा कोताह मै छतरपुर पहुंच गया हिज हाइनेस महाराजा साहब के सामने मेरी पेशी हुई । दरबार की सादगी ने मेरे सुख-स्वप्नो को चूर कर दिया । वह दरबार राजर्षियो का-सा था । चन्दोवे के नीचे महाराज की आराम-कुर्सी थी । दाईं ओर दो पटो पर दो भव्य-मूर्तियॉ विराजमान थीं उनमे एक महाराष्ट्र शास्त्री जी थे जो वशिष्टोपम दिखायी देते थे, दूसरे थे कृशतनु, लम्बे शरीर वाले एक साधु जिनके शरीर की लम्बाई उनकी कृशता को बढ़ा कर उनके तपोधन होने का आभास दे रही थी । उनके लम्बे शरीर के अनुकूल उनकी धवल प्रलम्बमाना डाढ़ी थी जो उनको विश्वामित्र की अनुरूपता

प्रदान करती थी। पास ही मे एक छोटी थाली मे चार-पॉच छोटी कटोरियों मे लवङ्ग आदि पान की सहकारी खाद्य-वस्तुएँ रखी थीं हुक्कावाला महाराज के मुखमण्डलकी गति का अध्ययन करता हुआ उसी के साथ निगालो को झुकाता जाता था।

बड़ी प्रसन्नता और कृपाभरी मुद्रा से महाराज ने मेरा स्वागत किया। मेरी भेट की हुई गिन्नी को स्पर्श कर के माफ कर दी। वार्तालाप अङ्गरेजी मे शुरू हुआ। दर्शन-शास्त्र मे महाराज की गति तो बहुत अच्छी थी, अंग्रेजी भी बिना प्रयास के बोलते प्रतीत होते थे, किन्तु वे उन्नीसवीं सताब्दी के प्रभाव मे अधिक थे। उन्होने मुझ से पूछा—कि मैंने हर्बर्ट स्पेन्सर का अध्ययन किया है? मैंने नम्रतापूर्वक कहा कि इस बीसवीं शताब्दी मे उनका अधिक मान नही है। उनकी द्विविधि मृत्यु हो चुकी है—भौतिक भी और यश सम्बन्धी भी। उनका यशः शरीर मरा नहीं है तो जराग्रस्त अवश्य हो गया है। महाराज ने बड़े आश्चर्य की मुद्रा धारण कर मुझ से पूछा कि बिना हर्बर्ट स्पेन्सनर के पढ़े एम० ए० कैसे हो गये ? मैंने कहा कि इस संसार मे हर्बर्ट स्पेन्सनर से अधिक महत्व के कई दार्शनिक हुए है। महाराज ने पूछा कि मै किस दर्शन का अनुयायी हूँ? मैंने रोब जमाने के लिए प्रेगमेटिज्म (Pragmatism) का नाम ले दिया। बहुश्रुत महाराज को अश्रुतपूर्व सिद्धान्त सुनाने का तो श्रेय न पा सका क्योकि महाराज प्रेगमेटिज्म का नाम सुन चुके थे, किन्तु उसका प्रभाव अच्छा पड़ा। महाराज पर मेरी विद्वत्ता की धाक जम गयी। वे पूछने लगे कि तुमने बिना बिलायत गये प्रेगमेटिज्म को कैसे जाना ? मैंने उत्तर दिया कि हम भारतवासी उनके दर्शनो मे इतने पिछड़े हुए नहीं है जितने वे समझते हैं। मेरे गुरुदेव प्रेगमेटिज्म के ही गीत गाते है। अंग्रेजी दर्शनो का ज्ञान तो प्रमाणित हो ही चुका था। भारतीय दर्शनों के ज्ञान के लिए

महाराजा बहुत उत्सुक तो नही जान पड़े तो भी मैंने प्रसंग निकाल कर गीता का एक श्लोक और कठोपनिषद् की एक श्रुति का कुछ अंश "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न च बहुधा श्रुतेन" बिना अटके कह डाला। उसको सुनते ही विश्वामित्र-स्वरूप रामा बाबा तो गद्गद् कण्ठ से महाराज को सम्बोधित करके कहने लगे, 'दयाल जे तो संस्कृत हू जानत हैं'। शास्त्रीजी ने धीरे से कहा, 'बडे आस्तिक बुद्धि के मालूम पड़ते हैं।' शास्त्रीजी ने इतनी कृपा की कि उन्होंने मुझ से संस्कृत बोलना नही शुरू किया, न कोई शास्त्रीय प्रश्न पूछा, नही तो कलई खुल जाती। उनको शायद इतनी ही बात पर सन्तोप हो गया कि एक अंग्रेजी पढ़ा इतनी आस्तिक बुद्धि रखता है। महाराज ने मुझको पान दिये। मेरे पिताजी के मित्र ने मुझे सब हिदायतों के साथ यही नहीं बतलाया था कि जब पान मिलें तब उसे उठने का संकेत समझना। मैंने उसे साधारण शिष्टाचार समझा और बैठा रहा। फिर शास्त्रीजी मेरी अज्ञता पर बडप्पन के साथ मुस्कराते हुए कहने लगे कि महाराज आपको कल फिर बुलायेंगे। इस संकेत को समझ गया और सभा को महाराजमय जान कर 'जोरि जुग-पाणी' सबको प्रणाम कर विजय-गर्व से प्रसन्नमुख अपने वास-स्थान को आ गया। मै अपनी समझ से अग्निपरीक्षा मे तो खरा उतरा किन्तु नौकरी का भाव-ताव किसी ने नहीं किया। हॉ मुझे राज-महमान होने का गौरव प्राप्त हो गया। सम्मानित व्यक्तियों की लाग (सीधा) जो एक पहलवान के लिए पर्याप्त होती मुझे मिलने लगी। महीना भर बाद फिर उन्हीं शास्त्रीजी की मध्यस्थता में मेरी नियुक्ति हो गयी।

'सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः'
(छतरपुर में मेरे अट्ठारह वर्ष)

नौकरी की जड़ें बहुत गहरी नही बतलाई जातीं । देशी रियासते तो अस्थायित्व के लिए बदनाम हैं । कुछ लोगों का कथन है, वहाँ के मुलाजिम घड़ी-घड़ी की खर मनाते हैं । ताँगे के आविष्कार के संबंध मे एक किवदंती है कि उसे पहले-पहल एक रियासत के दीवान ने बनवाया था जिससे वह राज-दरबार से लौटते समय पीछे की ओर मुँह किये हुए यह देखता रहे कि कहीं कोई सवार या हरकारा उसकी बरखास्तगी का परवाना तो नही ला रहा है । बात सोलह आना ऐसी नहीं । 'बद अच्छा, बदनाम बुरा ।' कम-से-कम स्वर्गीय हिज हाइनेस राजर्षि महाराजा सर विश्वनाथसिंहजू देव के समय (और शायद अब भी) छतरपुर-राज्य नौकरी के अस्थायित्व का अपवाद बना हुआ है ।

मैंने कई बार रस्सा तुड़ा कर भागने की कोशिश की, परम विनम्र भाव से महाराजा साहब से निवेदन किया "जो काम मैं करता हूँ, उसे कोई मूर्ख से भी मूर्ख अधिक सफलता के साथ कर सकता है, मुझे घर जाने की छुट्टी दीजिए ।" किन्तु उन्होने यही कहा—"तुम बड़े मूर्ख हो, जो ऐसा सोचते हो । प्रत्येक

काम में व्यक्तित्व की छाप रहती है। प्राइवेट सेक्रेटरी का काम तो बहुत भारी है, मुझे जूते पहनाने का काम भी जो करता है, वही कर सकता है और कोई नही।"

मेरा तो यह अनुमान है कि देशी रियासते पूर्णरूपेण अपरिवर्तनवादी (Conservative) होती है। वहां बंधेज लगते देर नही होती, और अगर कोई बंधेज बँध गया, तो शंभु-शरासन या अंगद के पैर की भांति अटल हो जाता है जिसकी स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए राम या रावण-सा ही विश्व-विख्यात योद्धा चाहिए। यदि श्रीमान् महाराजा साहब रसोई मे एक बार गुड़ की डली माँग ले, तो चार या पाँच वर्ष तक सेर-भर गुड़ का बंधेज लगा रहना कोई आश्चर्य की बात नही।

नौकरी तो क्या, वहाँ की मेहमानी मे भी स्थायित्व था। 'एक रोज का मेहमान, दूसरे दिन इंसान, तीसरे दिन का बेईमान और चौथे दिन का हैवान' का मसला देशी रियासतो पर नहीं लागू होता। वहां के मेहमान समय की अनन्तता मे विश्वास रखते हैं। मेरी नियुक्ति के पश्चात् भी डेढ़ वर्ष तक मेरी 'लाग' (भोजन-सामग्री) ईश्वर के प्रेम की भांति नित्यप्रति सूर्योदय के साथ आती रही।

ब्राह्मण-वृत्ति धारण करते हुए भी मुझ मे पूरा ब्राह्मणत्व नहीं आया था। मेरा उदर प्रेम-पयोधि की भाँति नाप-जोख के बाहर न था, जिसके सम्बन्ध मे श्री अन्नपूर्णानन्दजी के शब्दो मे कहा जा सकता —

दावा बहुत है इल्मे-रियाजी मे आपको;
बाम्हन का पेट आके जरा नाप दीजिए।

भोजन-सामग्री सम्मान के अनुरूप निश्चित होती थी, किन्तु सम्मान पाने पर जठराग्नि प्रायः मन्द पड़ जाती है। 'धनक्षये दीप्यति जाठराग्निः' किन्तु इसका उलटा भी बहुत अंश में ठीक

है, धन संचय होने पर जठराग्नि मन्द हो जाती है पूर्ण प्रज्वलित होने पर भी मेरे लिए डेढ़ सेर आटा और डेढ़ पाव घी भस्म करना टेढ़ी खीर था उससे पीर-बबर्ची-भिश्ती-खर-स्वरूप 'गरीब' पंडा का अवश्य भला होता था, किन्तु मै इतना ब्राह्मण भक्त न था कि उसकी चिन्ता भी न करूं। दार्शनिक के नाते कुछ दिनों तो 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्' की समस्या की भाँति मुझे भी यह प्रश्न व्यग्र करता रहा कि मेरा वेतन मुझे भोजन सामग्री की दक्षिणा के स्वरूप मिलता है या वह रोज़ का आटा-दाल वेतन के परिशिष्ट रूप मे प्राप्त होता है ? तर्क-शास्त्र के विद्यार्थी को अन्वय-व्यतिरेक के सहारे इस निर्णय पर पहुँचने में देर न लगी कि भोजन-सामग्री तनख्वाह के साथ लगी है, किन्तु उसका आवश्यक अङ्ग नहीं, वह छिपकली की पूँछ की भाँति सहज मे अलग हो सकती है। मैने महाराज और दीवान की खातिर-खुशामद कर भोजन-सामग्री की रकम तनख्वाह में शामिल करा ली। मेरी तनख्वाह सत्तर से एकदम सौ हो गई, और मै महाराज के दार्शनिक सहचर (Philosophical Companion) का गौरवान्वित पद छोड़ कर उनका प्राइवेट सेक्रेटरी बन गया, 'गा-बजा कर काठ मे पैर देना' स्वीकार कर लिया। क्लर्क, मुहर्रिर, बिल, रजिस्टर, टाइपराइटर के आडम्बर से सुसज्जित होकर मै दफ्तरी (यानी दफ्तर से सम्बन्ध रखने वाला) बन गया। पीछे मुझे श्रीशिवकुमार शर्मा, जिन्हे हम लोग गोस्वामीजी कहा करते हैं, असिस्टेण्ट मिले, लेकिन मैं अपनी अधिकार-लोलुपता-वश उन्हे पर्याप्त काम न दे सका। यह मेरे और उनके, दोनों के ही खेद का विषय रहा।

वैसे तो अट्ठारह वर्ष में अट्ठारह ही शिशिर-वसन्त आये होंगे, लेकिन हरएक बसन्त नई छटा लेकर आता था। रियासत में रह कर इतना मूर्ख न रहा कि मुझे बसन्त की भी खबर न

रहे, क्योकि उस रोज धूम-धाम से शिवजी पर जल चढ़ता और प्रायः नारद-मोह का नाटक भी खेला जाता था। सूर्य और चन्द्र-देव अपनी स्वर्ण-रजत-रश्मियो के ताने-बाने से नित्य नयी समस्याओ का जाल बुन देते थे।

प्राइवेट सेक्रेटरी के नाते मेरी निजी ड्यूटियाँ तो थी हीं, किन्तु तवेले के बन्दर की भाँति दूसरो की अलाय-बलाय भी मेरे सिर पड़ जाती थी। सब बात के लिए 'ऐसा क्यो ?' का उत्तर मुझे ही देना पड़ता, यद्यपि मेरे पास किसी अफसर का वकालतनामा न था। बात यह थी कि दो-एक बार मैने अफसरो की वकालत स्वेच्छा-पूर्वक करदी थी, क्योंकि मै उनकी कठिनाइयाँ समझता था। इस वकालत के लिए कोई समय निश्चित न था। महाराज सुनते सब की थे, करते अपने या अफसरों के मन की। किन्तु वे उस अफसर को, जिसके सार्व-जनिक कृत्य जनता की समालोचना का विषय बने हो, उन आलोचकों से मिला अवश्य देते थे। इससे बहुत-कुछ दोनो ओर की सफाई हो जाती थी। वैयक्तिक राजसत्ता मे चाहे दोष हो किन्तु उसमे शासक की दया का लाभ भी प्रजा को मिल जाता है।

मेरे कर्तव्य दो प्रकार के थे—एक खासगत के, दूसरे रियासत से सम्बन्ध रखने वाले। खासगत से सम्बन्ध रखने वाले कामो मे महाराज के पत्र-व्यवहार मे मदद देना, बिलो और पर्चों पर दस्तखत करना, मेहमानो की खातिर और उन्हे महाराज से मिलाना, मोटरो, घोड़ो और गायों के खर्च का हिसाब रखना आदि बहुत से काम शामिल थे। रियासत से सम्बन्ध रखने वाले कार्यों की भी सूची कुछ कम नहीं। पत्र-लेखन में महाराज स्वयं बड़े कुशल-हस्त थे। लेख उनका बड़ा सुन्दर था फिर भी आवश्यक चिट्ठियो का मसौदा तैयार करा कर वे अपने प्राइवेट

सेक्रटरी को गौरव दे देते थे। महाराज के पत्र-लेखन का कार्य गरमियो मे प्रातःकाल के ४ बजे से और जाड़ों मे ५ बजे से प्रारम्भ होता था। महाराज स्वयं चिट्ठी पर मुहर लगाते थे। किन्तु कभी-कभी यह काम मेरे सुपुर्द हो जाता तो मुझे मसौदा तैयार करने से भी अधिक दुष्कर मालूम होता था।

प्राइवेट सेक्रेटरी का सब से कठिन कार्य था मेहमानों की खातिरदारी और बिदाई। यद्यपि इस कार्य का अधिकांश भार पंडित माधव मिश्र और पंडित रामनारायण पर रहता था तथापि इस कार्य मे गुत्थियाँ पड़ जाने पर उन्हें सुलझाने के लिए प्राइवेट सेक्रेटरी का ही आवाहन किया जाता। महाराज के अतिथियों के आने की तो तिथि निश्चित रहती थी, किन्तु जाने की सदा अनिश्चित। तिथि को पीछे हटाने मे तिथि, वार, योग, नक्षत्र, करण, व्यतीपात, चन्द्रमा बहुत-कुछ सहायता देते थे। कभी-कभी धोबी कपड़ा देने में देर कर इस पुण्य कार्य मे सहयोग कर देता था। बहुत-से लोगों का मेहमानी एक तरह का पेशा बन गया था। वे छः महीने रह कर साल भर का बन्दोबस्त कर लेते थे। रियासत उनके लिए कामधेनु थी। महाराज भी इस फिजूलखर्ची से खुश न थे, किन्तु आँखो का शील-संकोच नहीं तोड़ना चाहते थे। बेमुरव्वती का काम दीवान और प्राइवेट सेक्रेटरी का था। वे लोग भो बिना शान्ति भंग किये जितनी काट-छाँट कर सकते थे, करते। ऐसे मेहमानों में आत्मसम्मान की मात्रा बहुत अधिक थी। उसकी रक्षा करना हम लोगों का धर्म था।

योरपियन मेहमानों में कुछ तो अफसर लोग होते थे, और कुछ गैर-अफसर। यद्यपि अफसरों के आने पर रियासत के अधिकारी-वर्ग की दौड़-धूप और चिन्ताओं का भार बहुत बढ़ जाता था तथापि उनके आने और जाने की तिथि निश्चित होने

के कारण यह भार कुछ हलका हो जाता था। राजनीति-विभाग के अफसर लोग मिष्टभाषी, कार्य-कुशल, वाक्पटु, कायदे-कानून के पाबन्द, मानापमान के सम्बन्ध मे संवेदनशील, अपने (ब्रिटिश सरकार के) मतलब के चौकस और प्रायः राजा के हितचिन्तक होते है। अधिकार-प्रियता, शिकार और कैम्प की सुविधा इनकी कुछ कमजोरियाँ कही जा सकती है। सौभाग्यवश महाराज की वैष्णव-प्रवृतियो के कारण मुझे शिकार मे सहयोग नही देना पड़ा।

गैर-सरकारी मेहमानो मे हरएक टाइप के लोग मिलते हैं। कुछ तो थे प्रोफेसर मलबेनी और फादर डगलस के-से साधुवृत्ति वाले, जिन्हे नर-भूषण, लोचन-सुखदायक कह सकते है। वे न ऊधो के लेन मे थे, न माधो के देन मे, सदा प्रसन्न रहते थे। कुछ लोग गेस्ट-हाउस को पाकशास्त्र की प्रयोगशाला बनाये रखना ही अपना दैनिक कर्तव्य समझते थे। एक महाशय तो कटग्लास के एक अदद की इजाजत लेकर अपने स्वार्थ से ग्लास का समूह-वाचक अर्थ (Collective sense) लगाकर रियासत को उसकी रक्षा के भार से मुक्त करना चाहते थे। एक देवी खजराहे की प्रस्तर-मूर्तियो को अपनी एकांत-साधना का विषय बनाना चाहती थी। ऐसे लोगो से झगड़ा करना भी प्राइवेट सेक्रेटरी के पुनीत कर्तव्यो मे ही था।

यद्यपि जप, पूजा और अनुष्ठान का भार मेरे ऊपर न था, तथापि उसके छींटो से मै अछूता न रहता था। उस विभाग का खर्च देख कर तो मेरी वणिक्-बुद्धि कभी-कभी विद्रोह करने लगती थी, फिर भी इतना संतोष था कि सब कार्य विधिवत होता था। यज्ञ-सम्बन्धी शास्त्रोक्त पात्रो का भी दो-एक बार आयोजन करना पड़ा था। उससे मेरी ज्ञान-वृद्धि हुई।

जिस अधिकार से मै अपने को स्थायी समझता था, उसी

अधिकार से परमा मेहतर भी वहाँ अचल था। दो बार सारी तपस्या को तुला मे रख कर ही मै दो मोटर-ड्राइवरो को निकलवा सका। हर महीने एक टायर और चार ट्यूब का उन लोगो ने बंधेज-सा बाँध लिया था। उनका मील नापने का यंत्र सदा आउट ऑफ् ऑर्डर रहता था। उनकी ऐसी कोई आवश्यकता न थी जो मोटरकार से पूरी न हो सके। मोटर के हुड के लिए नारियल का तेल मिलता था, जो उनके केश-कलाप को सँभालने में भी काम आता था। मोटर के आबरो के कुरते या चद्दरे बनती थी। एक मोटर-ड्राइवर को निकालने मे मुझे ही पछताना पड़ा। उसके स्थान मे एक कम तजुर्बेकार ड्राइवर रख लिया। उसने महाराज की सोलह हज़ार की मोटर झाँसी के पास नाव से नदी मे गिरा दी। कोई जान खतरे मे नही आई, यही ग़नीमत थी। फिर भी महाराज ने इतना ही व्यंग्य किया—"और बदल लो ड्राइवर!" मेरे ऊपर सैकड़ों घड़े पानी पड़ गया। एक्सीडेंट तो तजुर्बेकार से भी होते हैं, किन्तु उस समय ड्राइवर बदलना भूल ही सिद्ध हुई। घर के नौकरो का तजुर्बा शायद बाबा सूरदासजी को भी था। उन्होंने अपने को मुँह-लगे नौकर की तरह ढीठ कहा है—"तुव प्रताप-बल बदत न काहू, निडर भए घर-चेरे।" महाराज के यहाँ पूर्ण नौकरशाही थी लेकिन इतनी गनीमत थी कि वे अपने-ही-अपने विभाग मे स्वतंत्र थे, उनका राजकार्य मे कोई हस्तक्षेप न था। हरएक चीज का बंधेज था, चाहे उसका खर्च हो या नही। प्राइवेट सेक्रेटरी को सब से वाग्युद्ध कर आखिर मे समझौता करना पड़ता था। यह जानते हुए भी कि सोडावाटर-मशीन मे घी की चिकनाई (Lubrication) नही दी जाती, पानी के पुरोहितजी को हर सप्ताह आध पाव घी देना ही श्रेयस्कर समझता था।

प्राइवेट सेक्रेटरीशिप के अवसर मे मेरे द्वारा कई बार

मनोरंजक भूलें भी हुई है। एक बार आगरे से तार देकर बीस सेर मोंठ की दाल मँगवाई। मेरा अधिक दोष तो न था, किन्तु आगरे से ही मँगाने के कारण रियासत के एक हित-चिन्तक ने, जो वहाँ रहते थे, उसे दालमोंठ समझा। बीस सेर दालमोंठ आ गई। भाग्य से डाइबिटिक लोगो की कमी न थी। डाक्टर भट्टाचार्य की शिफारिस से उसके ठिकाने लगने मे देर न हुई।

महाराज रहते तो बहुत सादे वेश मे, लेकिन चमक-दमक पसंद करते थे। सनबोम का एडवर्टिज्मेंट देखकर वे यह समझे कि उसका रंग सुनहला होगा, किन्तु मॅगा लेने पर बिलकुल भँवर-काली निकली। बड़ी हॅसी रही। महाराजा साहब ने नामो की निरर्थकता बताते हुए 'कंडा बीने लच्छमी' वाली कहावत सुनाई।

यह सब फिजूलखर्ची होते हुए भी महाराज बड़े खर्चों मे सचेत रहते थे। बाहर के सौदागर आते थे। हजारो का सामान पसद होता। कई दिन सामान की उलट-फेर की जाती, आखिर लिया उतना ही जाता था, जितनी गुञ्जाइश होती। खर्च के सम्बन्ध मे वे हम लोगो की राय मान्य समझते थे। एक बार एक अँगरेज सौदागर ने उनसे पूछा—"आप महाराजा हैं, या आपका प्राइवेट सेक्रेटरी ?" महाराज ने हॅसते हुए उत्तर दिया—"हूँ तो मैं ही महाराजा, किन्तु जहाँ तक रुपए-पैसे का मामला है, मै अपने दीवान और प्राइवेट सेक्रेटरी के शासन मे चलना पसंद करता हूॅ, ताकि आखिर मे मै इन्हे जिम्मेदार ठहरा सकूँ।" सौदागर अपना-सा मुॅह लेकर रह गया।

रियासत की नौकरी मे यदि कठिनाई थी, तो केवल इतनी कि अक्सर विपरीत हित के लोगो को प्रसन्न रखना पड़ता था। अपरिवर्तनशील पंडित और साधुओ तथा प्रगतिशील दीवानों

और पोलिटिकल अफसरों को एक साथ खुश रखना कठिन कार्य था। यद्यपि दीवान और महाराजा, महाराजा और पोलिटिकल एजेंट में कोई विशेष संघर्ष तो नही रहता था, तथापि इन दोनो की रुचि के बीच मे संतुलन रख कर ही कोई उच्च राज-कर्मचारी सफल हो सकता है। मै नही कह सकता, इस संतुलन मे मै कहाँ तक सफल रहा ? महाराज के देहावसान के पश्चात् मुझे अवकाश ग्रहण करना पड़ा, क्योकि उनके साथ ही उनके प्राइवेट सेक्रेटरी का पद भी गया। मुझे अट्ठारह वर्ष मे बीस वर्ष के हक की पेशन मिल गयी। इसके लिए मैं अधिकारियो का अनुगृहीत हूँ। छतरपुर की मधुर-स्मृति चिरकाल तक रहेगी।

सैर का मूल्य
(मेरी चोरी)

चोरी चित्त की भी होती है और वित्त की भी। यद्यपि साहित्यिक लोग चित्त की चोरी को अधिक महत्ता देते हैं, तथापि मै आपको वित्त की ही बात सुनाऊँगा। लेकिन घबड़ाइए नहीं ऐसी बात नहीं कहूँगा जिसमे आपको दिल थामने की जरूरत पड़े। अपनी करुणा का उद्रेक फिर किसी दिन के लिए सुरक्षित रखिए।

मेरा नुकसान तो थोड़ा नहीं था 'मुर्गी के लिए तकुए का ही घाव बहुत होता है' किन्तु उस पर सम्मोहन कला-विशारद, परम भिषगाचार्य कालदेव के जादू भरे हाथ का सर्व-संकट-हरण स्पर्श हो चुका है। यह बात इतनी पुरानी होगई है कि सन्-संवत् भी भूल चुका हूँ। शायद १९२७-२८ का जमाना था। तब तक मैं अनाथ नही हुआ था मेरे माता-पिता जिन्दा थे। वैसे भी मै नौकरी की नाथ से नथा हुआ था। उन दिनों मैं छतरपुर राज्य के निजी आमात्य (Private Secretry) के गौरवान्वित पद को अपने अकार्य-कुशल अस्तित्व से लज्जित कर रहा था। मालूम नही कालिदास ने किस भावना से प्रेरित होकर मेघदूत लिखा था, किन्तु मेरा अनुमान है कि वे किसी राज्य में

नौकर होंगे, और उन्हे छुट्टी न मिली होगी, तभी उनके हृदय में मेघ को दूत बना कर अलकापुरो नही, तो काश्मीर (जहाँ के वह रहने वाले बतलाए जाते हैं) भेजने की कल्पना जाग्रत हुई होगी। मेरे आश्रयदाता स्वर्गीय हिज़ हाइनेस राजर्षि सर विश्वनाथसिह जू देव बड़े उदार थे, लेकिन छुट्टी देने मे बड़े कृपण भी थे। और चीजे तो बिना माँगे हो मिल जातीं थीं, क्योकि मेरा संकल्प था कि सिवाय छुट्टी के और कुछ न माँगूगा, किन्तु मोत की भाँति छुट्टी माँगने पर नहीं मिलती थी। नौकरी के स्वर्ण-पिञ्जर मे बन्द कीर-सी मेरी स्वच्छन्द आत्मा विवशता से छटपटाया करती।

मेरे जीवन में वह अवस्था आचुकी थी जब क्षुद्र नदी की भाँति खल लोग बौरा उठते है और उनके हृदय मे वैभव और विलास की इच्छा उठने लगती है। जलेसर के मकान के लिए थोड़ा कर्जा लिया था वह अदा हो चुका था। बुन्देलखण्ड ऐसी फिजूलखर्ची-प्रूफ जगह है कि वहाँ धन-संग्रह के लिए बेईमानी की भी जरूरत नही पडती। कुछ वणिक-जाति की स्वाभाविक व्यवसाय बुद्धि, कुछ स्त्री के आभूपण-प्रेम और कुछ कन्या के विवाह की दूरदर्शिता से मैंने पूरे पैंतालिस तोला सोना खरीद लिया था, चार-पाँचसौ रुपया भी पास-बुक मे था, हृदय मे जवानी की उमङ्ग थी। जब छतरपुर में बहुत से अँग्रेज दम्पतियो को सैर के लिए आते देखता था तब मैं भी सोचने लगता है कि मैने हो कौन से राम के बैल मारे है जो इस सुख से वञ्चित रहूँ। महाराजा के साथ बहुत सैर की थी किन्तु उसमें सपरिवार होने का सुख और गौरव कहाँ ? दूसरे की अधीनता मे सुख का उपयोग आत्म-भाव की तुष्टि नही करता। महाराज के साथ का सफर महाराज के लिए सैर थी किन्तु मेरे लिए घोर-कठोर कर्त्तव्य था। अस्तु।

ठाट-बाट के साथ सपरिवार बाहर जाने का सुअवसर देखने लगा। मेरठ से मेरी धर्मपत्नी की, भतीजी की, शादी का निमंत्रण आया वह उपेक्षणीय न था। यद्यपि काम के नाम तो मैं फली भी नही फोड़ता तथापि मेरी उपस्थिति वहां वांछनीय थी।

छुट्टी के लिए खीच-तान होने लगी महाराज साहब के सभी महत्त्वपूर्ण कार्य उसी मुहूर्त्त के लिए रुके हुए से जान पड़े।

नरेशो की चाकराधीनता, जिसके बल मै अपना स्थान सुरक्षित समझता था मुझे अखरने लगी। दीवान साहब पण्डित सुखदेव विहारी मिश्र थे। मेरे कार्य के अपने ऊपर ले लेने के वचन देने पर (ऊँचे पद वाले नीचे पदवाले की एवजीदारी बहुत कम करते हैं, किन्तु 'कभी नाव पर लढ़ी और कभी लढ़ी पर नाव' के न्याय से उन्होने यह कार्य स्वीकार किया था) मुझे छुट्टी मिली।

मैं तो "अष्टकपाली दारिद्री जब चाले तब सिद्ध" का मानने वाला था, किन्तु महाराजा साहब सायत के उपासक थे। उन्होने मेरे लिए भी सायत देखने का कष्ट किया। मेरे लिए चौथा चन्द्रमा था जो यात्रा के लिए अनिष्टकर समझा जाता है। लेकिन स्वतन्त्रता के आवेश मे चौथे चन्द्रमा तो क्या, आठवें चन्द्रमा की बात नही मानता। मैंने समझा मेरे रोकने के लिए बहाना ढूँढ़ा गया है। मै बालक तो न था, किन्तु अवस्था के हिसाब से महाराजा के सामने बालक ही था। मेरे बाल-हठ के सामने महाराजा का राज-हठ न चला क्योकि मेरी धर्मपत्नीजी मायके जाने की प्रसन्नता मे तिरिया-हठ का संयोग दे रही थीं।

परमेश्वर के घर तक पहुँचने के अनेको मार्ग हैं किन्तु छतरपुर से अपने घर पहुँचने के दो ही रास्ते थे—एक सीधा आगरा होकर और दूसरा फेरफार का, कानपुर होकर। आगरे का रास्ता घर की मुर्गी की तरह (मैं मुर्गियाँ नही पालता हूँ)

आकर्षणहीन हो गया था। नवीनता के उपासक के लिए जब "सैर कर दुनियाँ की गाफिल जिन्दगानी फिर कहाँ ! जिन्दगानी गर रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?" की उमंग हृदयोदधि मे विलोड़ित होने लगी तो फिर नये मार्ग से जाने का लोभ संवरण करना कठिन था। उस मार्ग के एक-एक लाभ बृहदाकार धारण कर मेरे सामने आने लगे। कानपुर के लिए महोबा होकर जाना होगा, आल्हा-ऊदल की वीर-भूमि के दर्शन होगे, इतिहास-प्रसिद्ध कीर्तिसागर देखने को मिलेगा। शायद यदि जाना चाहूँ तो राम-पद-अङ्कित चित्रकूट की पुण्य-भूमि मे भव-ताप-शमन करने का सुअवसर मिल जायगा नही तो उधर के पावन समीर का एकाध झोका तो लग ही जायगा। कानपुर मे पाप-प्रक्षालिनी, कलिमल-विध्वंसिनी, पुण्यतोया भागीरथी के निर्मल सलिल में मज्जन और पान का अलभ्य लाभ मिलेगा। इससे भी बढ़ कर एक बात और थी वह यह कि कानपुर मे एक सज्जन रहते थे जिन पर मेरे चार हजार रुपये की डिगरी थी, और इसके इजरा कराने की कानूनी मियाद तीनचौथाई मेरे सौजन्य और दयाभाव के वश और एक चौथाई आलस्य के कारण जाती रही किन्तु मेरी समझ में इसकी नैतिक मियाद तब भी बाकी थी। उनका पता-ठिकाना तो इससे अधिक नही मालूम था कि वे घी की दूकान करते है किन्तु चलते-फिरते उनके दर्शन होने की दूरस्थ सम्भावना अवश्य थी। इस विचार मे कुछ अधिक तत्व ही नहीं था किन्तु अपने को धोखा देने तथा अपनी फिजूलखर्ची पर उपयोगिता का आवरण डालने के लिए यह ख्याल अच्छा था। उस मार्ग से जाने से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूपी चारों पदार्थ मेरे क़रतल होने की सम्भावना थी। फिर क्या था ? 'सब यानन ते श्रेष्ठ अति द्रुतगतिगामिनकार' का आवाहन हुआ। महोवा की सड़क कुछ खराव थी। वैसे तो उधर जाने के लिए ड्राइवर लोग

प्राय: आनाकानी किया करते थे, किन्तु मेरे साथ उनका अफसर मातहती का ही नहीं वरन् श्रद्धा-भक्ति का भी सम्बन्ध होने के कारण चक्रपाणि ड्राइवर ने भी मना नहीं किया। मालूम नहीं स्वयं विष्णु भगवान ही मुझे काल के गर्त में लिए जा रहे थे। जाने के लिए मेरा असबाब भी इतना सुडौल बँधा था कि मुझे उस पर गर्व होने लगा। मै भी अपनी निगाहो मे बड़ा जँचने लगा। 'वक्रतुण्ड महाकाय' का स्मरण कर मोटर पर सवार हुआ, और मारुत-तुल्य वेग से स्टेशन पहुँचा। स्टेशन पर सामान उतरा और उसके साथ हम लोग भी उतरे। मेरे चाकर राज भो मेरे साथ थे। उन्होने भोजनादि की सुविधा करदी। रात को सवार हो कर नौ बजे कानपुर पहुँचे। यद्यपि कानपुर मे कई जान पहचान के लोग थे तथापि उन पर परिवार का भार डालना मैंने नीति विरूद्ध समझा। सराय और होटल मुसलमानी और अंग्रेजी आधिपत्य के चिह्न होने के कारण प्राचीनता के धार्मिक संस्कार मे पले हुए मनुष्य के लिए वर्ज्य-से थे। "येषा क्वापि गतिर्नास्ति" ऐसे अशरण लोगो को काशी की भांति शरण देने वाली धर्मशाला का आश्रय लिया गया। धर्मशाला के चुनाव मे ब्रह्म-वाक्य और डॉक्टर-वाक्य की तरह ताँगेवाले का वाक्य प्रमाण माना गया।

आनन्दराम की धर्मशाला में मनचाहा स्थान मिल गया। उन कमरो में घर का-सा वातावरण था। दीवारो पर किसी रमणी के मांगल्य-सूचक चित्रण से अनुमान होता था कि यहाँ पर किसी का विवाह भी हुआ था। भोजन करके कल्पना-शक्ति कुछ बढ़ जाती है। हाल ही में हम लोगो ने एक कहानी पढ़ी थी, जिसमे एक सज्जन की रेल मे चोरी होगई थी। चोरी के अनुसन्धान मे उन्हे एक महीना स्टेशन पर ही ठहरना पड़ा, और उनकी लड़की का विवाह वहाँ के स्टेशन-मास्टर के लड़के से

हो गया था। कहानी या चोरी का भाग तो छोड़ दिया और सोचने लगा हमारी लड़की के लिए सुयोग्य वर मिल जाय तो उसका इसी धर्मशाला मे विवाह कर सकते हैं, एक विवाह के लिए हमारे पास ट्रङ्क मे पर्याप्त-सा धन था। हम भूल गये थे कि दीवार के भी कान हुआ करते है। धन का अस्तित्व बहुत सी बातो को भुला देता है, फिर यह तो ज़रासी बात थी। हम लोग श्रृङ्गारियों और व्यसनियों की भाँति शाम की प्रतीक्षा करने लगे। पाँच बजते ही दो ताँगे मँगाये गये। उनके लिए हम लोगो की संख्या कम थी। सोचा सुख-दुःख के साथी चाकर को भी सैर के लाभ से क्यो वञ्चित रखा जाय। आखिर ताँगे में जगह छोड़ने से कौन-सी बुद्धिमानी है! उस समय कोई मुझसे यह कहने वाला न था "अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन् विचार-मूढ़-प्रतिभासि त्वं मे" नौकरी की जी उबाने वाली कार्य-प्रणाली से छुट्टी पाने की प्रसन्नता, स्वतन्त्रता के आवेश और सैर के शौक मे उन साधारण बातो को भी भूल गया था, जिनका मै सदा ध्यान रखता था। अपने पसीने की कमाई का घनी-भूत सार मेरे लिए कोहेनूर से भी नयनाभिराम और मूल्यवान् पैतालीस तोले के स्वर्ण-खण्ड को मै जी-जान से प्यारा तो नही, किन्तु किसी गोपनीय रहस्य की भाँति सुरक्षित रखता था। छतरपुर में उसके कारण घर सूना नही छोड़ता था। जिस बक्स मे वह द्रव्य रखा जाता था उसका स्पर्श मेरे सर्वतोभद्र और सर्वतोगहि विश्वस्त चाकर (उसका नाम भरोसा था) के लिए भी वर्ज्य था। हाँ तो उस द्वादश-वर्षीय चाकरी-वारिधि की अमूल्य मणि की रक्षा के लिए नौकर भी न छोड़ा। मेरी धर्मपत्नी के मन मे शंका की क्षीण रेखा आई थी, वह भी बातो के पारावार मे जल की चल लहर और खल की प्रीति की भाँति स्थिर न रह सकी। मेरे कमरे से एक कमरा मिला हुआ था। उसके बीच के किबाड़ो मे

(देवीजी पर अपनी कर्तव्यशीलता की धाक जमाने के लिए) ताला डाल दिया था। बाहर भी मजबूत ताले से कमरा सुरक्षित कर दिया। खजाने के प्रहरी की भाँति उसे दो बार खींच कर देख लिया था। इससे अधिक और सावधानी क्या ?

मेरे कमरे के दोनो ओर कुछ सज्जन, जो दुग्ध-फेन चन्द्र-ज्योत्स्ना और गांधीजी के चरित्र तथा यश से भी उज्ज्वल, चन्द्रमा के किरणजाल से भी हलके और झीने तथा गङ्गाजी के प्रातःसमीर प्रेरित लघु-लघु लहरियो से उर्मिल (चुन्नटदार) सफेद वाइल के कुर्ते पहने थे, ठहरे हुए थे। उनके गले मे चमकती-दमकती स्वर्णशृङ्खलाएँ महेश की व्यालमाला की भाँति शोभा दे रही थी। उनका अस्तित्व रक्षा की गारण्टी था। फिर मै आशावादी और मानव जाति की श्रेष्ठता मे विश्वास करने वाला था। मेरे मन मे शङ्का क्यों स्थान पाती ?

हम लोग सैर को चले। क्या देखे और क्या न देखे के सम्बन्ध में भी ताँगे वालों की बात को आप्तवाक्य मान कर उनकी मायारूपिणी इच्छा के वशवर्ती हो यन्त्रारूढ़ की भाँति घूमने लगे। जिसे उन्होंने कह दिया "अवसि देखिए देखन जोगू" वही हमारे लिए परम दर्शनीय बन गया। उनकी रुचि लोक-रुचि की प्रतीक थी।

जब कभी मै घण्टे के हिसाब से ताँगा किराए पर करता हूँ तभी मुझे Time is money (समय ही धन है) की सत्यता में विश्वास होता है, किन्तु उस समय जब रुपये की परवा न थी, तो उसके पर्याय समय की कब चिन्ता होती ? मै तो अनन्त काल तक घूमता ही रहता। ताँगे वाले का तो एक-एक क्षण दुधार गाय बन रहा था। किन्तु मेरी छोटी बालिका ने रुदन की ठानी। वह समय का मूल्य जानती थी। उसके सोने का समय हो गया था। हम लोग धर्मशाला लौटे, असबाब पर एक उड़ती

हुई निगाह डाल कर थके-माँदे, कमरों के आगे सो रहे। बड़ी स्वस्थ निद्रा आई। प्रातःकाल गङ्गा स्नान के लिए प्रस्थान करने वाले ही थे, खयाल आया कि कुछ रुपया और ले ले, लौटते समय बाजार से कुछ सौदा-पता भी कर लेंगे। देवीजी एक साड़ी खरीदना चाहती थी। बक्स देखा, ताला खुला था। सोचा गलती से खुला रह गया होगा। रुपयो की थैली की तरफ हाथ डाला, वह गायब! सुनहली जेवर के डब्बो की ओर हाथ बढ़ाया तो वह भी नदारद! सोने के ढेले की गन्ध भी न मिली। यदि कपूर का ढेला होता तो, कुछ दिनो तक कपड़ो मे ही उसकी गन्ध रहती। देवीजी का चेहरा फक पड़ गया। 'लो! अब क्या करोगे, चोरी होगई!' आश्चर्यमुद्रा धारण कर मैंने भी चोरी शब्द की प्रतिध्वनि करदी। प्रकृतिस्थ होने पर देवीजी को धीरज बँधाते हुए कहा—'अभी पुलिस को लाता हूँ। ऐसी बात नहीं कि पता न लगे।'

मै उन्हे वहीं छोड़ कर पूँछता-पाछता थाने की ओर लपका। जहाँ जिधर देखूँ वहीं सन्नाटा। 'दारोगाजी कहाँ हैं?' 'एक बम-केस की तफतीस में गये हैं।' 'छोटे दारोगाजी हैं?' 'कोर्ट-साहब के यहाँ गये हैं।' कोई मुहर्रिर, मुन्शी, ख्वाँदा, कान्सटेबिल रिपोर्ट लिखने वाला न मिला। मैं झुँझला कर कोतवाली की तरफ जाने ही वाला था कि छोटे दारोगाजी आ गये। उनसे मैंने अपना दुखड़ा रोया। उन्होने सहृदयतापूर्वक सुनने के बजाय मेरे ऊपर अविश्वास प्रकट किया। 'इतना सोना कहाँ से आया?' रियासत की नौकरी का नाम लिया, तो भेद-भरी दृष्टि से कहने लगे 'तभी आपको कुछ परवा नहीं है! छोड़ कर चल दिये सैर करने!' मुझसा निरभिमान पुरुष भी ऐसी अपमान-जनक बातचीत न सुन सका। मैंने जरा कड़े स्वर से कहा—'यदि आपको रिपोर्ट लिखनी है तो लिखिए नही तो मैं जाता हूँ। मेरे

पास फिजूल वक्त नही है।' वे मेरे साथ धर्मशाला गये। दो-एक आदमियों के बयान लिये, एकाध जगह सामान इधर से उधर कराया, गालियो का कोष खाली किया, बस तफतीश की खाना पूरी हो गई। मै डी० एस० पी० के यहाँ गया। छतरपुर की प्राइवेट सेक्रेटरीशिप के कार्ड की चोरी नहीं हुई थी। उसके बल पर डी० एस० पी० के बँगले मे तुरन्त प्रवेश मिल गया। उसने बातचीत तो सहृदयता से सुनी, लेकिन किसी विशेष अफसर को तैनात करने से इन्कार कर दिया। राजनीतिक जुर्मों (Political Crimes) की छान-बीन में अफसर अधिक व्यस्त थे। बँगले से निकलते ही चपरासी ने इनाम के लिए सलाम किया। बड़ा गुस्सा आया, लेकिन करता भी क्या ? हारे जुआरी की भाँति ताँगे पर आ बैठा।

दूसरे दिन नौ बजे से तीन बजे तक इन्तजार करने के बाद कोतवाल साहब के दर्शन हुए। बड़ी दीनता धारण करने पर उन्होंने एक नवयुवक इन्सपेक्टर को मेरे साथ भेजा। उसकी सलाह से मेरे पड़ौस के सफेद-पोश लोगो की कलकत्ते के पते पर तलाशी के लिए वहाँ के सुपरिंटेन्डेन्ट महोदय को तार दिया गया, वहाँ से जवाब आया कि कलकत्ते मे वह गली ही नहीं है। मै अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

छतरपुर से माल खरीदने आये हुए पुरोहितजी ने परिस्थिति का अध्ययन कर मुझे बतलाया कि चोरी किस तरह हुई होगी। सींक की ओट पहाड़ की बात निकली। मेरे कमरे से मिले हुए कमरे के बीच मे जो किवाड़ थे उनमे देशी तरह की साँकल थी। उसके कुण्डे के छोर पीछे की ओर मुड़े थे, वे नरम-लविया के थे, सहज ही मे पीछे से सीधे किये जा सकते थे। कुण्डो के पीछे ठोंक कर किवाड़ खोलने मे विशेष बुद्धिमानी की जरूरत न थी उस काम को मैं भी कर सकता था। मेरा अज्ञान-तिमरान्ध दूर

हो गया। बेचारा ताला क्या करता? चोरी भी एक कला* है।

दो दिन की छान-बीन मे पता चला कि उस रोज ठगों का एक दल कानपुर आया था। उसने जुग्गीलाल, कमला पति के यहाँ, कलकत्ते की दूकान से, यह तार दिलवाया था कि उस गोल के व्यक्ति विशेष को पाँच हजार दे दिये जायँ। उनका मुनीम उस झांसे में नहीं आया। वार खाली गया। वे तो बच गये, मैं गरीब मारा गया। ५०००) नही, तो पच्चीस सौ से कुछ ज्यादा चोर के हाथ लगे। मृच्छकटिक के नायक चारुदत्त की भांति मैंने भी संतोष कर लिया कि चोर हमारे घर से निराश नहीं गया। उसकी विद्या सफल हुई। वह जरूर सायत देखकर चला होगा।

तीन रोज की इक्के-ताँगे की दौड़-धूप और तारबर्की मे मेरी जेब का भार आधा रह गया, और जब जलेसर जाने मात्र का किराया मेरे पास बचा, तो दो दिन का स्थगित गङ्गा-स्नान का कार्य पूरा कर मैंने जलेसर का टिकट कटाया। जलेसर से मेरठ आया वहाँ मेरी देवीजी के भाई साहब ने हम लोगों को एक कमरा दिया, उसके लिए एक छ लीवर का मजबूत ताला भी देने लगे। ताला देख कर मुझे भाग्य की विडम्बना पर हँसी आई। जब कुछ माल ही न रहा, तब ताले की क्या जरूरत?

मालूम नही मेरी चोरी क्यों हुई? पूर्व जन्म के पापों के उदय होने से या इस जन्म की गफलत के कारण? जो कुछ भी हो, कनक से सौगुनी कनक की मादकता का नशा हिरन हो गया! छुट्टी लेने और चोरी होने का यही फल हुआ कि मैं अपना काम-काज रुचि और तन्मयता के साथ करने लगा।

---

* इसी कला से चमत्कृत होकर मैंने 'चोरी एक कला' शीर्षक लेख भी लिखा है। वह पुस्तक के अन्त में दिया जायगा।

पट-परिवर्तन

(छतरपुर से विदा और आगरे में घर की तलाश)

यद्यपि गुरुजनों ने चाकरी को निकृष्ट कहा है तथापि स्वर्गीय महाराज की कृपा और उनके सौजन्य से नौकरी का जुआ बहुत मुलायम हो गया था। आरम्भ मे तो मैंने रस्सा तुड़ा कर भागने की कई बार सोची थी और कभी-कभी कवि न होते हुए भी स्वतन्त्रता के स्वर्ग की कल्पना कर महात्मा तुलसीदासजी के 'कबहुँक हौ यह रहनि रहौगो' के अनुकरण मे कुछ ऐसी पंक्तियाँ अपने गर्धव-स्वर मे गाया करता था—

कबहुँक हौ यहि रहनि रहौगो।
भूलहुते नहि, पुनि, मुनि-दुर्लभ चाकर वृत्ति गहौंगो॥
आपुहि सासित रहि, पर-सासन में नहिं चित्त धरौंगो।
ह्वै स्वाधीन, निरज निरधनता मे सुख-मोद लहौगो॥
आवागमन छाँड़ि महलन को कुटिया माहि बसौंगो।
प्रातहि उठि-उठि नित प्राची मे नभ-लाली निरखौंगो॥
रूखी-सूखी खाइ सबन सौ प्रेम-नेम निबहौगो।
नाथ पधा बिनु कालिन्दी कूलन माँहि सुखी विचरौगो॥

समय बीतने पर मैं नौकरी की लीक में पड़ गया और कैदी की भाँति अपने बन्धनों से प्रेम करने लगा। मै अपनी सन्तोषवृत्ति के कारण छतरपुर की नौकरी में बिना मरे ही स्वर्ग देखने लगा था। यदि कोई मुझ से कुशल पूँछता तो गर्व से कह देता कुशल क्या पूंछते हैं कुशल से भी ज्यादह है, लेकिन मैं भूल गया था 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। मैं वैसे तो पुरुषार्थवाद में विश्वास करता हूँ किन्तु 'यत्ने कृते यदि न सिद्धयति' तब मैं भाग्यवाद का अनुयायी हो जाता हूँ। उसमे कुछ संतोष मिलता है।

महाराज साहब के दुखद देहावसान होने पर मुझे नौकरी की आशङ्का अवश्य हुई किन्तु भक्त न होते हुए भी भगवान् रामचन्द्र की उस मुखाम्बुजश्री का 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले बनवासदुःखतः' ध्यान कर मेरा चित्त विचलित नहीं हुआ। पोलिटीकेल एजेन्ट साहब तथा दीवान साहब की प्रेरणा से प्रसन्नता पूर्वक कमी (Retrenchment) का कुठार चलाने मे प्रवृत्त हो गया। मैं समझता था कि इस सहयोग के कारण मेरी गर्दन बची रहेगी लेकिन बकरे की माँ कबतक खैर मनाती ? स्वयं मौत के फरिश्ते को भी मौत का सामना करना पड़ता है। यद्यपि मैं प्राइवेट सेकरेटरी के साथ रियासत में और कुछ भी था फिर भी मेरा प्रधानपद प्राइवेट सेकरेटरी का ही था। महाराज के देहावसान के साथ उस पद का भी अन्त हो गया था। मुझे पोलिटिकैल एजेन्ट का शिष्टतापूर्ण पत्र मिला। मुझे नयी आयोजना मे स्थान न दे सकने का खेद प्रकट करते हुए उदार पेन्शन दिलाने का बचन दिया गया। पेन्शन देने में मेरे साथ उदारता हुई लेकिन नौकरी बनी रहती तो और भी अच्छा होता। उस पत्र को देखते ही मेरे शिष्य और मित्र पंडित रामनारायण बोले 'लिखत सुधाकर लिखगा राहू' किन्तु मैंने उनको डाटते हुए कहा 'हुइ है वही जु राम रचि

राखा, को करि तर्क बढ़ावहि शाखा'। मैं उस पत्र को 'विधि का लिखा को मैटन हारा' कह कर अपने जाने की तुरन्त तैयारी करने लगा। किन्तु धीर होते हुए भी मन मे एक बार यह भावना आई थी 'या खुदा यह आफत का प्याला मेरे सामने से टल जाय'। प्रभू ईसामसीह तक ने मौत के प्याले के टलने की प्रार्थना की थी, फिर अस्मदादिकानां का गणना ? लेकिन नौकरी छूटना मौत न थो, और फिर पेन्शन भी तो थी। मैंने उस प्याले को मीरा की भांति भगवान् का चरणामृत समझ पी लिया।

हर हाइनैस राजामाताजी ने मुझे अपने निजी कामकाज की देखभाल के लिए कुछ दिनों रोकने की इच्छा प्रकट की किन्तु मैंने उनकी कृपा का लाभ उठाना उचित न समझा क्योकि 'स्थान भ्रष्टाः न शोभन्ते केशाः दन्ताः नखाः नराः'। रियासत के अधिकारियो ने मेरे साथ इतनी कृपा की कि जब तक मै असबाब के प्रबन्ध करने में लगा रहा तब तक मुझे यह अनुभव नहीं होने दिया कि मै किसी प्रकार से स्थानच्युत हूँ। सवारी नौकर सब वैसे ही लगे रहे, आदर-सत्कार भी वैसा ही था लेकिन यह सब शोभा मुर्दे के कफन की सी ही शोभा थी, शब को घर से बाहर ही जाना पड़ता है। मुर्दे से मेरी दशा कुछ खराब थी। उसको आराम से लेटा रहना पड़ता है। मुझे उठकर खुद जाना था—आलस्य भक्त होते भी मैने अपने को उठाने में काफी जल्दी की।

मनुष्य नौकरी छूटने पर बेफिक्र नहीं हो जाता, उसे बहुत-सी नई समस्याओ का सामना करना पड़ता है। सबको थोड़ी-बहुत इनाम-बकसीस भी देना आवश्यक-सा हो गया था। शायद उससे ज्यादा, जो नौकरो लगने पर खर्च करना पड़ा हो। नौकरी लगने पर मैने किसी को कुछ इनाम नही दिया था। सब से बड़ी समस्या असबाब और जानवरों की थी। असबाब इस तरह से बाहर निकला मानो कुरकी हो रही हो। कुछ सामान

बाँटा भी। वह दृश्य ऐसा था मानों घर में आग लगी हो और लोग सामान ढोकर ले जा रहे हों। खैर, सामान स्टेशन तक ढोने के लिए रियासत से पूरी बार-बरदारी मिली। जैसे-तैसे स्टेशन पहुँचा; यद्यपि धनवान तो नहीं हूँ, तथापि मैं बड़े आदमियों का सा आलस्य अवश्य रखता था। मैं यह चाहता था कि कोई मुझे और मेरे सामान पहुँचाने का ठेका ले ले; किन्तु ठेकेदार लोग सेवा-समिति के सदस्य नहीं होते। सामान की समस्या ने मेरी अन्य समस्याओं को भुला दिया। स्टेशन-मास्टर ने मेरा अंतिम संस्कार बहुत शीघ्र कर दिया; लेकिन यह समस्या थी कि सामान लेजाकर उसे रक्खूँगा कहाँ ? मै चाहता था कि जिस प्रकार महारास की रात्रि मे चन्द्रमा की गति स्थगित हो गई थी, उसी प्रकार रेल की भी गति स्थगित हो जाय और जब मै अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच कर निवास-स्थान तलाश लूँ, तब ही रेल पहुँचे। मेरे एक मित्र ने पहले से ही यह आशंका की थी। उन्होंने मुझे उपदेश भी दिया था, कि पेश्तर मकान तलाश कर लो, तब समान और घर के लोगों को ले जाना किन्तु दो बार आने-जाने का कष्ट कौन उठाता ? यदि जान-जोखो न हो तो मुझ में थोड़ी साहस-वृत्ति (Adventurous spirit) भी है और भक्त न होते हुए भी ईश्वर पर विश्वास है। सोच लिया राम बेड़ा पार करेंगे।

मेरा घर का भी एक मकान है। उसके निर्माण के लिए न मेरा प्रस्ताव था और न कोई प्रयत्न और पुरुषार्थ। मैं तो वर्तमान का ही ध्यान रखता हूँ। न इस लोक के भविष्य का न परलोक के। अब तो चैन से गुजरे तो मैं आकबत का नाम भी न लूँ। पूर्वजों के स्थान से मुझे प्रेम नहीं। "तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति", किन्तु मैंने यह नहीं सोचा कि आज कल खारी जल भी मुश्किल से मिलता है। खैर, जैसा कि मै पहले

ही कह चुका हूँ। मैंने मित्र का कहना नही माना। मूर्ख और बड़े आदमी दोनों ही 'परोक्तं न मन्यन्ते' वाले सिद्धान्त के अनुयायी होते है।

मै रेल मे सवार हो गया। एक चाकर को जानवरो की सेवा के लिए छोड़ा और एक अपनी सेवा के लिए; क्योंकि हम सब चाकराधीन हैं और फिर जानवर भी हैं। उनका समानधर्मी होने के कारण उनको मै छतरपुर न छोड़ सका। न वे गुण में अच्छे थे और न रूप में, फिर भी अपने होने के कारण उनसे मोह था। उनकी कीमत से भी अधिक उनका भाड़ा देना पड़ा। रेल यथा समय आ गई। स्टेशन पर सामान उतारा, कुछ मेरे डब्बे मे था और कुछ गार्ड के।

मकान तो निश्चित था नहीं जो एकदम से चला जाता। इतनी ही गनीमत थी कि रात की ट्रेन से नही उतरा। बीबी-बच्चों को स्टेशन पर ही छोड़ा। मै और मेरे चिरंजीव इष्ट मित्रो की सहायता से मकान की तलाश मे निकले। यद्यपि हम दोनो भिन्न-भिन्न ओर गये तथापि एक ही स्थान में मिल गये। वे ही इने-गिने मकान थे, जिनको सब लोग बतलाते थे।

मन मे रईसो की बू समाई हुई थी। स्टेशन के पास के मकानो को तो इसलिए नही पसंद किया कि रेलगाड़ी के धुएं से स्वास्थ्य खराब होगा और आवाज से निद्रा मे बाधा पड़ेगी। ऋषि मुनि नही बनना चाहता था; गीताजी में कहा है:—"या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।" शहर के मकानो में तो स्वास्थ्य और निद्रा के राम ही मालिक थे, दुमंजिला, तिमंजिला अवश्य थे, पक्के भी थे, नलदेव उनमें निरन्तर वास कर उनको शीलवान (सीलवाले) बना रहे थे। मालिक मकान उनको कोई संदूक की उपमा देता, कोई कहता कि इसमें चोर की गति नही। मै उनसे कह देता—महाशय, इसमे सूर्य

तक की गति नही, तो चोर की कहाँ ? चोर बेचारे तो बड़े उपकारी होते हैं। वे अपनी जान पर खेल कर हमारे मकान को हवादार बना देते है। कोई कहते कि इस मकानमें बन्दर नहीं आ सकते हैं। मैंने उत्तर दिया—महाशय मै रावण का वंशधर नहीं जो उनसे डरूँ। मै तो पवन का भक्त हूँ। यदि उस भक्ति के नाते पवन सुत के अनुयायी मेरे घर पर कृपा करें, तो मुझे खेद नहीं। चोर का भी भय नहीं क्योकि एक बार मै स्वतन्त्र भ्रमण और वायु सेवन की न्यौछावर सत्ताइस सौ रु० अर्पण कर चुका हूँ। जिस प्रकार प्लेग या हैजा होने के पश्चात मनुष्य उन रोगों से निर्भय हो जाता है, मै अपने को चोर-प्रूफ समझने लगा था। इससे चोर-प्रूफ मकान की आवश्यकता न थी।

मकान तलाशते-तलाशते शाम हो गई, आखिर घर वालो का ख्याल था। मेरे कुछ इष्टमित्रो ने, जो मेरे साथ थे अपने-अपने घर ले जाने का आग्रह किया। मैंने सोचा कि तलाश कोलंबस (Columbus) की सी यात्रा तो है नहीं। आज न सही, कल तो अवश्य सफलता देवी के दर्शन होंगे। अपना भारी असबाव एक मित्र के यहाँ भेज, हम लोग चंद्र-महल होटल में ठहर गये। अभी नौकरी की साहिबी का नशा नहीं उतरा था। सावन के अंधे को हरा-हरा ही सूझता है। दूसरे रोज फिर उसी धुन में होटल से निकले। फिर वही किस्सा ! वैसे ही मकान और वैसी ही बाते।

शहर के बाहर मकान तलाशने की ठानी, तो वहाँ किसी कोठी का किराया अधिक था और जिसका अधिक नहीं था, वह शहर से दूर निर्जन स्थान मे थी कि जहाँ तक पहुँचने मे तांगे का किराया देते-देते दिवाला निकल जाता। मैं तो स्वास्थ्य-सुधार के विचार से और कुछ घटी हुई आय के कारण पैदल ही आता जाता। इससे चमड़ी तो नहीं पर दमड़ी अवश्य बच जाती और समय भी कट जाता किन्तु, मेरे चाकर देव क्यो पैदल आते-

जाते ? न तो उनका स्वास्थ्य ही खराब था और न उनकी पैनशन ही होगई थी। (मेरी हुई थी, उनकी नही) खैर, बाहर की कोठी का भी ठीक न पड़ा। किराये और खर्च का सवाल था 'चाहिय अमी जुरे नहि छाछी' दूसरा दिन यो ही गया। जानबरों के डब्बे आजाने की सूचना मिली। अब मकान की समस्या और भी तीव्र होगई। मै तो होटल मे ही रह जाता; किन्तु जानवर तो होटल मे न रहते! बाहर की कोठी में जानवरो का सुभीता था, तो संकुचित आय वाले आदमी का सुभीता न था और शहर में किराये का थोड़ा-बहुत सुभीता था, तो जानवरों का नही।

होटल में ठहरने का मेरा गर्व चूर्ण हो गया था। अपने मित्र के यहाँ घरवालो को पहुँचा दिया। मकान की खोज कोलंबस की यात्रा से भी बढ़ी-चढ़ी ज्ञात होने लगी। मित्र ने जानवरों के ठहरने का एक पड़ोसी के यहाँ बन्दोवस्त कर दिया। स्टेशन पर जानवरों का स्वागत करने गया। वहाँ जानवरो की चुङ्गी का सवाल उठा। मुंशी ने कहा—'फी जानवर आठ आना लगेगा।' मैने तर्कशास्त्र में पढ़ा था कि All men are animals (सब मनुष्य जानवर हैं।) मुझे शंका हुई क्या हम लोगो की चुङ्गी लेना स्टेशन मास्टर भूल गये? मैंने कहा—अच्छा शरहनामा दिखाइए।' शरहनामे मे यह पढ़कर संतोष हुआ कि आठ आना फी पूँछ महसूल लगेगा। ईश्वर को धन्यवाद दिया कि हमको पुच्छ-विषाण-हीन बनाया। रास्ते में एक कोठी देखी, उसका ऊपर का खण्ड खाली था। मकान मालिक से पूछा कि इसमे गाय-भैंस का सुभीता है या नही? उसने तुरन्त उत्तर दिया आपकी गाय-भैंस क्या कुर्सी-मेज पर बैठती है जो ऊपर रहेगी। स्वाथ औचित्य को भूल जाता है।

जानवरो को घर पहुँचा कर एक और कोठी देखी, उसमे किसी राज्य के ex-minister का साइनबोर्ड लगा हुआ था। मैं भ

एक राज्य का निकाला हुआ था। सुग्रीव और रामचंद्र की सी मैत्री का हिसाब समझ कर (हम दोनों ही हृतराजदारा तो नहीं, परन्तु हृतराज अवश्य थे) बादरायण सम्बन्ध से उनके यहाँ गया कि शायद उसमें स्थान मिल जाय। उन्होंने कहा—हम मकान छोड़ रहे हैं; पूरे मकान के लेने की मेरी हिम्मत कहाँ थी? मैंने उस मकान के लिए मन मे बड़ी-बड़ी कल्पना कर रक्खी थी। खूब मिलाई जोड़ी, एक अंधा, एक कोढ़ी। एक ओर साइन बोर्ड लगता ex-minister और एक ओर लगता ex-secretary, पूरा बानिक बन जाता। यह संगठन ईश्वर को मंजूर न था। होटल में किराये का बोझ था, तो मित्र के घर एहसान का बोझ। साँप छछूँदर कीसी गति होगई। दोनों में से एक भी बोझ हलका न था। मै एकान्त मे बैठकर ईश्वर से प्रार्थना करने लगा—"अब मै नाच्यो बहुत गुपाल"।

ईश्वर-प्रार्थना के अतिरिक्त नाना प्रकार के मंसूबे बांधा करता था। मै सोचता था कि किसी अखबार मे विज्ञापन निकाल दूँ कि जो मुझे खातिरख्वाह मकान तलाश दे, उसे मै १००००) इनाम दूँगा। विज्ञापन का ही खर्च था। १००००) रु० के नाम उतने पैसे भी न थे; लेकिन यह संतोष था कि मकान के खातिरख्वाह होने का निश्चय करना तो मेरे हाथ में है, इस लोभ में बेकार लोग मेरे लिए सगर के पुत्रो की भांति शहर भर को खोज डालेंगे; लेकिन बिना कुछ दिये, किसी के परिश्रम से लाभ उठाना मेरे सिद्धान्तों के विरुद्ध था। देने को मेरे पास घर के किवाड़ भी न थे। हाँ, एक चीज अवश्य थी, जो देने से घटती नही। एक स्थानीय विद्यालय मे अनाहारी रूप से विद्यादान करने लगा। कुछ विद्यार्थियों ने गुरुदक्षिणा के रूप मे मेरी खोज अपने हाथ में ली। विद्यार्थियो ने बानर-राज सुग्रीव की अपेक्षा अधिक मित्रता दिखाई। मुझे उनको धमकी देने की

या भय दिखाने की आवश्यकता न पड़ी। उन्होने खोज कर ही स्टेशन के पास का मकान बताया। मैंने उस मकान को भीतर से न देखा था। उसके बारे मे मेरा निर्णय युक्ति-आश्रित (A priori) था, अनुभवाश्रित नही। उन्होने मुझे निरीक्षण का परामर्श दिया। सच्ची बात को बालक से भी ग्रहण करनी चाहिए। मैंने जाकर मकान देखा वह नया था। कारीगरों ने उसे बना कर हाथ भी न धोये होगे। उसमे नल देव का अभाव था; लेकिन भगीरथ रूप मेरे चर देवो ने मुझे आश्वासन दिलाया कि उनके रहते मुझको जल का कष्ट न होगा। मकान की स्वच्छता के आगे और सब कठिनाई विलीन हो गई। केवल मेरे अभिमान को आघात पहुँच रहा था, कि 'खेच मोची के मोची' वाली लोकोक्ति चरितार्थ हो रही है। पहले यदि उस मकान को देख लेता तो इतनी परेशानी से बच जाता। शायद पहले रोज देखने पर पसन्द भी न आता। धक्के खाकर ही मनुष्य की अक्ल ठिकाने आती है। मुझे धक्के लगे सो लगे, संसार के ज्ञान-भण्डार मे वृद्धि हो गई। ईश्वर की खोज के लिए एक उपमा और बढ़ गई। ईश्वर अपने पास होता हुआ भी लोग उसको दूर-दूर खोजा करते है। अस्तु मेरी खोज का अन्त निकट दिखाई पड़ने लगा। किन्तु अभी थोड़ी ग्रह-दशा शेष थी।

मकान की खोज हो गई। पर मालिक मकान का पता न था। उनकी खोज का भार अपने सिर पर ले लिया; आखिर वे मिले और मेरे भाई के मित्र निकले। उन्होंने कहा कि आपने फौरन ही क्यो न खबर की ? मैंने कहा—न आप सर्वज्ञ थे न मै ही। सुदामा को भी पूछते-पूछते श्रीकृष्ण के दरवाजे तक जाना पड़ा था। उनसे किराये की अधिक बातचीत न करके उनका बताया हुआ किराया, आज्ञा गुरूणामिव शिरोधार्य किया। मकान की चाबी ले, इतना

प्रसन्न हुआ मानों स्वर्ग की चाबी मिल गई हो। मैंने चाबी श्रीमती जी को अर्पण की। जिस प्रकार धनुष तोड़ने से श्रीरामचंद्र जी को जानकी जी के साथ जय, कीर्ति और न जाने क्या मिला उसी प्रकार उस चाबी के साथ मित्र के अहसान से मुक्ति, कर्मण्यता का सार्टीफिकेट, पैरों के लिए विश्राम, लामकां होने के गौरव से छुटकारा और न जाने क्या-क्या मिला। अब मैं उस मकान में सुख से रहता हूँ। रेल के आवागमन से घड़ी के अभाव की पूर्ति हो गई। सब यात्राएँ सुलभ हो गईं। घर से बाहर पदार्पण करते ही प्लेटफार्म मिलता है, तो तांगेवालों से किराया ठहराने की यम-यातना से बच जाता हूँ। दीनदयाल के कान मे भनक पड़ गई, किन्तु देर मे। खैर, देर आयद दुरुस्त आयद। अब ईश्वर से यही प्रार्थना है कि मुझे चाहे सहस्र बार जन्म लेना पड़े पर मकान की खोज से बचा रहूँ।*

---

* यह प्रार्थना स्वीकार सी हो गई है। रेलवे प्लेट-फार्म का सान्निध्य तो बहुत दिन नहीं रहा। श्री महेन्द्रजी की कृपा से जैन बोर्डिङ्ग हाउस की वार्डनशिप मिलगई। उसके पश्चात् अपना मकान बना लिया। उसकी करुण कथा आगे पढ़िए।

मेरा मकान

(मेरी मूर्खता की साकार मूर्ति)

मुग़ल-सम्राट् शाहजहॉ जब क़ैद मे थे, तब उनसे पूछा गया कि आप क्या काम करना चाहेगे ? उन्होने उत्तर दिया—लड़कों को पढ़ाना। इसके प्रत्युत्तर में उनके सआदतमंद पुत्र शाहंशाह औरंगज़ेब ने फरमाया कि अब्बाजान, आपके दिमाग़ से बादशाहत की बू अभी नहीं गई है।

छतरपुर-राज्य से लौटने पर मैंने भी जैन-बोर्डिङ्ग-हाउस, आगरे की अनाहारी वा अनारी (Honorary) आश्रमाध्यक्षता (वार्डन-शिप) स्वीकार की। लोग कहेगे, मेरे दिमाग़ से भी राज्य की बू नही गई थी, ठीक है। प्रोफेसरी मे तो निजी संबंध का प्रायः अभाव होने के कारण अधिकार की मात्रा कम रहती है, वार्डनशिप मे घनिष्ठतर सम्बन्ध होने के कारण वह कुछ अधिक हो जाती है। किन्तु मेरे मत मे शासन का अभाव ही शासन की श्रेष्ठता थी (That Government is best which governs least)। दुर्भाग्य-वश मेरे सिद्धांतो के लिए जैन-बोर्डिङ्ग-हाउस का वातावरण उपयुक्त न था। विद्यार्थियो मे प्रीति का भय बहुत कम था और भय की प्रीति भी अधिक न थी। अधिकारी-

वर्ग भी 'भय बिन होइ न प्रीति' के पूर्ण अनुयायी और दण्ड-विधान के घोर समर्थक थे। वे मेरी अपेक्षा कुछ आदर्शवादी भी अधिक थे, बीसवी शताब्दी की अँगरेजी सभ्यता मे पालित-पोषित बाबू लोगों से निशाचरी वृत्ति (रात मे चरने या खाने की वृति) छुड़ाना चाहते थे। मै चाहता था कि राम-राज्य की भाँति 'दण्ड जतिन कर' ही रह जाय, अर्थात् दण्ड सजा के रूप से उड़ जाय, और दंड (डंडा) केवल संन्यासियो के हाथ में ही रहे, किन्तु राम-राज्य कलियुग मे कहाँ ?

मैं यह अवश्य कहूँगा कि सब विद्यार्थी दंड के अधिकारी न थे। दंड के अधिकारी लोगों ने भी मेरे साथ कभी उद्दंडता का व्यवहार नही किया। मेरे प्रति उनका सौजन्य-भाव ही रहा। उनमे इतनी शिक्षा न थी कि वे यह समझे कि बन्धन में ही मुक्ति है, आत्मसंयम में ही आत्मसम्मान है। अधिकारियों का भी मेरे प्रति सौजन्य ही रहा, इसीलिए मतभेद होते हुए भी, कोई वैमनस्य नहीं हुआ।

मै यह समझता था कि स्वर्ग से भी पुण्य क्षीण होने पर लोग मर्त्यलोक मे भेज दिए जाते है, फिर राज्य और अधिकार के लिए भाग्य का बहुत दिन आश्रय लेना बुद्धिमानी का काम नही था। सम्राट् एडवर्ड अष्टम को ऐसे राज्य को छोड़ने में, जिस पर कभी सूर्यास्त नहीं होता, एक मुहूर्त की भी देर न हुई, तो मुझे अपने छोटे-से राज्य छोड़ने में देर लगाना स्वार्थपरायणता की पराकाष्ठा प्रतीत हुई। मैंने त्याग-पत्र भेज दिया। त्याग-पत्र सखेद स्वीकार भी हो गया। इतने में ग्रीष्मावकाश आगया, मुझे पेन्शन-स्वरूप अधिकारियों के सौजन्य-वश बोर्डिङ्गहाउस के कार्टरों में दो मास और ठहरने की बिना माँगे आज्ञा मिल गई।

आज्ञा तो मिली, किन्तु मुझे नीति-वाक्य याद आया कि 'स्थान-भ्रष्टा न शोभन्ते केशाः दन्ताः नखाः नराः।' इसलिए मैंने

भविष्य के बारे मे विचार किया। किराए के मकान मिल सकते थे। थोड़े किराए के मकान पसन्द नही आते और अच्छे मकानो का किराया इतना अधिक था कि इसके प्रतिमास अदा करने मे मेरे पैर सौर से बाहर निकल जाते। भूखो नही तो जाड़ों अवश्य मर जाता।

जलेसर मे मेरा पैतृक घर है, किन्तु वहाँ न तो बच्चो की शिक्षा का प्रबन्ध और न मेरे स्वाध्याय का सुभीता था। वहाँ चुङ्गी की चर्चा और निरीह जर्जरितकाय किसानो को आतङ्क-भार से दबाने और मरो को मारने की शेखी बघारने वाले शाह-मदारो, सत्ताधिकारी जमींदारो तथा अनारी मजिस्ट्रेटो की गर्वोक्तियाँ सुनने के सिवा क्या रक्खा था? यद्यपि मै क्षीण तेज था तथापि मुझमे दूसरो का प्रताप न सहने वाला सहज स्वभाव बना हुआ था, फिर जलेसर मे मेरी कहाँ गुजर?

आगरा मे विद्यार्थी जीवन व्यतीत करने के कारण उससे विशेष मोह हो गया है। उसको छोड़ने की इच्छा नही होती। लोमश ऋषि को आदर्श मान कर मकान बनाने के, सिद्धान्त-रूप से, मै खिलाफ हूँ। लोमश ऋषि की इतनी आयु है कि जब ब्रह्मा का एक वर्ष होता है, तब वे अपने शरीर का एक बाल नोच कर फेकते है और इस प्रकार जब उनके सारे शरीर के बाल निकल जायँगे, तब उनकी मृत्यु होगी। वे भी अनित्यता के भय से मकान नही बनाते, और अपनी झोपड़ी को आज तक सिर पर लिये फिरते है। मेरे आर्थिक सलाहकार भी मकान बनाने मे सहमत न थे। किन्तु चिड़ियाँ अपने नीड़ मे विश्राम लेती है, साँप के भी बांबी होती है, भेड़िया अपनी माँद मे रहता है, चूहे भी अपने लिए बिल खोद लेते है तो मेरे शरीर को आतप और मेघ से सुरक्षित रखने के लिए एक टूटा-फूटा मकान भी न हो,

आत्मभाव जाग उठा, 'धिग् पौरुषं, धिगैश्वर्यम्'। मैं सोचने लगा—
दीन सुदामा के पास भी शायद एक झोंपड़ी थी। यदि किराए
झोंपड़ी होती, तो कृष्ण भगवान् उसके स्थान में सोने के
९ल न बनवाते क्योंकि मालिक मकान उन्हे अपने बतलाने
लगता। किराए के मकान के सम्बन्ध मे कॉलरिज आदि
अँगरेजी के सुकवियो की करुण कथाएँ पढ़ी थी। सुना जाता
है, एक बार वे बड़ी सुन्दर कविता लिख रहे थे, जिसे उन्होने
स्वप्न मे रचा था। वह संसार की सर्वोत्तम कविताओं मे से
एक होती, किन्तु वे कुछ ही पंक्तियाँ लिख पाये थे कि मकान
वाले ने आकर घोर तकाजा किया और कवि महोदय की जिह्वाग्र
सरस्वती हंसारूढ़ हो ब्रह्मलोक चली गई। संसार एक सुन्दर
कविता से वञ्चित रह गया। यह कथा पढ़ने के पश्चात् मुझे
किराए के मकानो से चिढ़-सी हो गई है। मुफ्त के मकान
अब भाग्य मे कहाँ? जेल जाने की शरीर मे सामर्थ्य नही। अस
बस, अपना ही मकान बनाने का कठोर सङ्कल्प किया। अच्छा
है, मकान बनेगा, तो कुछ शगल ही मिल जायगा। पढ़ने से ऊबे
हुए मन को कुछ व्यसन न होना मुझे अखरता भी था। इस
सम्बन्ध में मैंने एक सवैया भी लिखा है—

तास छुए नहि हाथन सो, सतरंजहु में नहि बुद्धि लगाई।
टेनिस-गेम सुहाय नही, फुटबॉलहु पै नहिं लात जमाई॥
केरम-मर्म न जान्यहु, पेखत, क्रीकेट-कंदुक देत दुहाई।
जीवन को सुख पायु न रंचक लेखन मे निज बैस गमाई॥

जब मैं किसी बात का सङ्कल्प कर लेता हूँ, तो उसकी पूर्ति
के लिए अन्धप्राय हो जाता हूँ। आवेश-वश आगा-पीछा नहीं
देखता। कल्पना के कल्पतरु के नीचे बैठे नये मकान के स्वर्णमय
स्वप्न देखने लगा। मैं सोचता था, थोड़ा-सा ही द्रव्य लगा कर
एक छोटा-सा मकान बना कर उन्मुक्त वातावरण मे रहूँगा।

मकान के लिए जमीन तलाशने लगा। जहाँ मै जमीन चाहता था, वहाँ की एक-एक इञ्च जमीन बिक चुकी थी। बिकी हुई जमीन मे से बहुत अच्छी जमीन कुछ अधिक दामों मे मिलती थी। किन्तु जिस प्रकार सिह दूसरे का मारा हुआ शिकार नही खाता, उसी प्रकार मै दूसरे की खरीदी हुई जमीन मे से एक भाग खरीदना पसन्द नही करता था। उसके गुण भी मुझे अवगुण प्रतीत होने लगे। एक गढ़ा अछूता था। प्रेमान्ध की भाँति उसके प्रत्यक्ष दोष भी मै न देख सका। जमींदार महोदय ने मेरे सिर पर ऐसी उल्लू की लकड़ी फेरी कि मै छः महीने के लिए नही, तो छः दिन के लिए अवश्य अन्धा हो गया। मैंने उस जमीन के कुछ दोष बतलाये किन्तु उन्होने कहा—बस, दो-ढाईसौ रुपए मे गढ़ा भर जायगा, और जमीन एक रुपए गज से दो रुपए गज की हो जायगी। मालूम नही, पंडित वसन्तलालजी ने आदमी से गधा बनाने की विद्या, बिना बङ्गाल गये ही, कहाँ से सीख ली थी। कहने के ढङ्ग मे जादू होता है। सत्तू के मुकाबले धान अच्छे बतलाये जा सकते है—"स···त्तू ३ मल···स···त्तू ३ जब घो···रे ३, तब खा···ये ३, तब चले; धान बिचारे भले, कूटे-खाये चले।"

दो सौ रुपए मे गढ़ा भर जाने की बात में आ गया, और बात की बात मे बयनामा करा लिया। बयनामा के समय कचहरी का सच्चा अर्थ मालूम हो गया—"कचं केशं हरतीति कचहरी।" जो कुछ जोड़-बतोड़, काढ़-मूसकर रुपए ले गया था, सब उठ गये। हिन्दी का पक्षपाती होता हुआ भी उर्दू की लिखाई के लिए रुपए खर्च किये। हक के भव्य नाम से पुकारी जाने वाली रिशवत भी दी। मई के महीने की मुँह पर चपेट मारने वाली लू का तो कहना ही क्या था? स्वर्ग के स्वप्न को थोड़े ही में वास्तविक रूप देना उसके लिए कुछ कठिन न था।

पूर्वजों के पुण्य-प्रताप और आप लोगों के आशीर्वाद से सकुशल घर लौट आया। "जान बची लाखों पाये।" इतना सन्तोष अवश्य हुआ कि १।) रुपए साल का मालगुजार जमींदार बन गया। मालूम नहीं, अब मैं कर्ज के कानून का लाभ उठा सकूँगा या नहीं?

जमीन मिलते ही कारीगर और ठेकेदार उसी भाँति मँडराने लगे, जिस प्रकार मुर्दे को देख कर गिद्ध मँडराते है। मुझे भी अपनी महत्ता का भान होने लगा। जब से रियासत छोड़ी थी, लोग मेरे पीछे नहीं चलते थे और इक्के ताँगे वालो के सिवा कोई मुझसे 'हुजूर' नहीं कहता था, एकदम हुजूर, साहब और गरीब-परवर, अन्नदाता सब कुछ बन गया।

विघ्नो का भय सामने था, किन्तु मुझे महात्मा भर्तृहरि के वाक्य याद आये कि नीच लोग विघ्न के भय से कार्य प्रारम्भ नहीं करते 'प्रारभ्यते न विघ्नभयेन नीचैः'। अच्छे आदमी तो विघ्न आने पर भी अपने उद्देश्य से नहीं टलते। मैं अपने को अच्छा ही आदमी सिद्ध करना चाहता था, और आँख बन्द कर गढ़े में मकान बनाने के कार्यरूप गढ़े मे कूद पड़ा। नक्शा बना, उसमें पैसे के सुबीते के अतिरिक्त सभी सुबीते देखे गये। लाख विश्वास दिलाने पर (केवल गङ्गाजली नहीं उठाई) ठेकेदार को विश्वास न हुआ कि मैं गरीब आदमी हूँ। दिल्ली-दरवाजे मकान बनाने वाले सभी लोग सम्पन्न गिने जाते हैं, किन्तु ठेकेदार यह भूल जाता है कि काबुल मे भी गधे होते हैं।

बुद्धिमान पुरुष का यह कर्तव्य होता है कि पहले व्यय का अनुमान कराकर कार्य प्रारंभ करें। मै अनुमान इस भय से नहीं कराता था कि शायद भारी रकम देखकर कार्यारंभ ही न कर सकूँ, और कहीं मेरा सोने का घर मिट्टी मे न मिलजाय। बिना आगा-पीछा देखे, विघ्नेश का नाम लेकर, नींव खुदना

शुरू हुई। नीव के लिए मैं समझता था, गढ़े मे होने के कारण कम खुदाई की आवश्यकता होगी। जिधर गढ़ा नहीं था, उधर थोड़ी ही दूर पर पक्की जमीन निकल आई और गढ़े की ओर जितना खोदा जाता, उतना ही पक्की जमीन दूर होती जाती। नीव जैसे-जैसे नीचे जाती, वैसे-वैसे ही मेरा दिल भी गढ़े में बैठता जाता। पृथ्वी पर जो कुदाली चलती, वह मानो मेरी छाती पर ही चलती। लोग पूछते, क्या 'प्रोग्रेस' अर्थात् उन्नति हो रही है, मै कहता, भाई, प्रोग्रेस नही, रिग्रेस (अवनति) हो रही है। नीव जितनी गहरी जाती उतनी ही मेरी आशा का क्षितिज दूर हटता। मै सोचता—कहीं पुराने जमाने की बात न हो जाय कि नीव तब भरी जाती थी, जब पानी चूने लगे। खैर राम-राम कर सात फीट पर पक्की जमीन के दर्शन हुए। उतनी ही प्रसन्नता हुई, जितनी जहाज के यात्री को समुद्र का किनारा देखने पर हो। कुछ किफायतशारी करने की बात चलाई। सभी ने मुक्त कंठ से बड़ी बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करते हुए, तहखाने का परामर्श दिया, मानो तहखाना कोई ऐसा छू-मंतर था, जिससे मेरी कठिनाइयो का अन्त हो जायगा।

तहखाना बनना शुरू हुआ, और ईट-चूने का स्वाहा होने लगा। जनमेजय के नागयज्ञ की भाँति शाम तक एक-एक ईंट का हवन हो जाता। जब काम जोरो से चला तो यदि ईंट हो तो चूना नहीं, और चूना हो तो ईंट नहीं। 'शाकाय वा लवणाय वा' की बात हो गई। दाल हो तो रोटी नही, और रोटी हो तो दाल नहीं।

मकान गढ़े मे होने के कारण ठेकेदार को दीवारो को खूब विस्तृत करने का अवसर मिल गया। जितना दीवारो का आकार बढ़ता, उतना ही सुरसा के मुख की भाँति उसके बिल का विस्तार बढ़ता। मै यह कहते-कहते थक गया कि भाई, मै घर बना रहा

हूँ, किला नहीं; किन्तु वह यह कहते-कहते न थका कि हुजूर, दरिया में मकान बना रहे है, मुझे कुछ नहीं, आप ही को पछताना पड़ेगा।

मेरे मित्रों और सलाहकारो ने भी ठेकेदार का ही पक्ष लिया और मुझे ऐसा भय दिखलाया कि मानो प्रलय-पयोधि उमड़ कर इस छोटे-से गढ़े मे भर जाने वाला है या हजरत नूह के तूफान का प्रतिरूप उस तलैया मे तैयार होने की खबर मिली है। मुझे भी पंचो की राय के आगे सिर झुकाना पड़ा। "पंच कहे बिल्ली, तो बिल्ली ही सही।" मैंने भी सोचा, "जब ओखली में सर दिया तो चोटों से क्या डरना?" चूने का बिल बडा लम्बा-चौड़ा आया। मेरे मित्र ने उसे देखकर कहा कि ठेकेदार और चूने वाले ने मिलकर अवश्य चूना लगाया।

लखनऊ-निवासी मेरे मित्र शिवकुमारजी ने आशीर्वाद दिया कि तुझे गढ़े में गुप्त धन गढ़ा मिल जायगा। मैंने कहा कि गढ़ा हुआ धन तो क्या मिलेगा, किन्तु मै अपना कठिनता से संचित किया हुआ धन ईंटो के रूप मे पृथ्वी मे गाढ़ रहा हूँ।

पुराने लोग भी धन जमीन मे ही गाढ़ते थे। सनातन-धर्म की रीति से मेरा रुपया वसुन्धरा बैंक मे जमा होने लगा। मेरे एक मित्र ने मुझे घबराते हुए देखकर कहा, "अभी तो इब्तिदा-ए इश्क है, रोता है क्या, आगे-आगे देखिए होता है क्या?" मैंने कहा, बस आगे यही होना है कि धन का स्वाहा कर संन्यास धारण कर लूँ। पहले लोग वर्णमाला का इस प्रकार अर्थ लगाते थे—'क' से कमाओ, 'ख' से खाओ, 'ग' से गाओ, प्रसन्न रहो, और सब के पीछे धन और शक्ति रहे, तो 'घ' से घर बनाओ। मै आजकल 'घ' को सबसे पहला स्थान दे रहा हूँ।

पक्की जमीन से दीवारे सात फीट ऊपर आ गई हैं। हाथी डुबान नहीं, तो मुझ ऐसे शर्मदार, पस्त:क़द और पस्तहिम्मत

मनुष्य-डुबान तो नींव गहरी हो गई है। मैं अशरफ़ुल मख़लूक़ात हाथी से किस बात में कम हूँ ? फिर भी अभी 'दिल्ली दूरस्त' की भाँति प्लिन्थ दूर है। शायद दिल्ली-दरवाजे मकान बनाने का प्रभाव हो। जिस बात को मैंने दिल-बहलाव की चीज़ समझा था, वह अब बवाल-जान बन गई है। चन्दन घिसना ही दूसरा दर्द-सर हो गया है। लोग कहते है, "देर आयद, दुरुस्त आयद।" जली तो जली, पर सिकी अच्छी। अब तकलीफ उठाते हो, तो पीछे से आराम मिलेगा ? भाई साहब ! मुझे तो नौ नक़द चाहिए, तेरह उधार नहीं। अभी तो गढ़े की जमीन मे इतनी भी गुञ्जाइश नहीं कि एक छप्पर डाल कर दुपहरी मे (रात मे नहीं) वहीं सो जाया करूँ। रुपया खर्च करने पर इतना ही संतोष मिला है कि एक दिन की वर्षा से गढ़े भर जाने के कारण वेद-ध्वनि से समता रखने वाली दादुर-ध्वनि चारो ओर से सुनाई पड़ती है, और बाबा तुलसीदासजी की निम्नोलिखित चौपाई याद आ जाती है—

'दादुर-धुनि चहुँ ओर सुहाई,
बेद पढ़हिं जिमि बटु समुदाई।'

पहले ज़माने मे वेद-पाठ सुनने के लिए राजा-महाराजा लोग हजारो रुपया खर्च कर देते थे। इस कलियुग मे दादुर-ध्वनि सुनने के लिए पाँच-सात हजार ख़र्च हो जाय, तो कौन बुराई है ? दूसरा संतोष यह है कि मै स्वयं ठग गया, दूसरे को नहीं ठगा। कबीरदास की भी यही शिक्षा है—

'कबिरा' आप ठगाइए, और न ठगिए कोय।
आप ठगा सुख होत है, और ठगे दुख होय॥

रोज प्रातःकाल ईंटो के तक़ाजे के लिए भट्टे पर जाना पड़ता है। साम-दाम-दण्ड-भेद सब उपाय करने पर दो हजार ईंटे पहुँच पाती है, जिसे हमारे विश्वकर्मा के अवतार मिस्टर

भोंदाराम कॉन्ट्रैक्टरजी 'ऊँट के मुंह के जीरे' से भी कम बतलाते है। मेरी चरम साधना के फल को इस प्रकार तिरस्कृत होते देख कर सात्त्विक रोप आ जाता है। मै चाहता हूँ कि इन सब झंझटो से कहीं दूर भाग जाऊँ। शग़ल बहुत हो लिया, उससे ख्वारी आ गया, किन्तु अब दूर भी नहीं भागा जाता। सॉप-छछूँदर की-सी गति हो रही है। मेरा उस साधु का सा हाल हुआ जिसने कम्बल के धोके तैरते हुए रीछ को पकड़ लिया था। फिर वह उस कम्बल को छोड़ना चाहता था लेकिन कम्बल उसे नहीं छोड़ता था। कहाँ प्रातःकाल का ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्य-रसास्वादन और कहाँ ईंट के भट्ठों की हाजिरी? कहाँ वेदान्त-वार्ता और कहाँ भुस का भाव? किन्तु अब क्या किया जाय?

"माया बस जीव गुसाईं;
बँध्यौ कीर-मरकट की नाईं।"

बस, मायाधीश भगवान् ही इस माया-जाल से मुक्त करे तो मुक्त हो सकता हूँ, नहीं तो कोई छुटकारा नही। त्राहि माम्! त्राहि माम्! त्राहि माम्!

हानि-लाभ का लेखा-जोखा

(मेरा मकान २)

मुसलमानो के यहाँ मुसव्विरी करना गुनाह समझा जाता है, क्योंकि चित्रकार एक प्रकार से खुदा की बराबरी करने की स्पर्द्धा करता है। शायद इसीलिए अल्लाह-ताला लेखको से भी नाराज रहते है क्योकि कि वे भी अपने रचनात्मक कार्य द्वारा परमात्मा की होड़ करते है। कवियो ने अपनी रचना को एकदम परमात्मा की सृष्टि से भी बढ़ा हुआ बतला दिया है। काव्य प्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने कहा है कि कवि को भारती विधि की सृष्टि से परे और शुद्ध अल्हाद से बनी हुई है। भगवान की सृष्टि मे तो शुद्ध आल्हाद बिजली के प्रकाश मे भी खोजने पर बड़ी मुश्किल से मिलता है किन्तु लेखक अपनी कल्पना की उड़ान मे उसे सुलभ बना देते है। फिर परमात्मा लेखकों से क्यो न रूठे ? यदि लेखक लोग शब्दो के महल और हवाई किलो के अलावा ईंट-चूने के मकान बनाने का भी साहस करे तो नीम चढ़े करेले की बात हो जाय। ईश्वर मनुष्य की इस डबल स्पर्द्धा को कहां सहन कर सकते ?

मेरे साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ। ठोक-पीटकर लोगो ने मुझे लेखक-राज बना ही दिया और मै स्वय भी अपने को पाँचवे सवारो मे गिनने लग गया। अपने को बड़ा आदमी समझने के कारण ही छतरपुर से नौकरी छोड़ने के पश्चात दूसरी जगह की नौकरी न निभा सका। नौकरी करना तो टेढ़ी खीर है। उसमे बड़े आत्म-संयम की जरूरत है, किन्तु मै तो जैन बोर्डिंग हाउस के लड़को को कायदे के घेरे में बन्द रखने का बाइज्जत काम भी न संभाल सका। अब यदि इतने पर भी संतुष्ट रहता तो गनीमत थी—बाप दादो की नही, अपनी ही भलमनसाहत लिए बैठा रहता तब तक विशेष हानि नही थी।

दूसरे प्रोफेसरो को कोठियो मे रहते देख (मै भी प्रोफेसरो मे करीब-करीब बेमुल्क का नबाब हूँ) मुझे भी कोठी बनाने का शौक चर्राया। मेरे सामने दो आदर्श थे। श्री भोदाराम जी ठेकेदार तो चाहते थे कि अकबर की इस नगरी मे कम से कम लाल पत्थर के किले की टक्कर का एक दूसरा किला बनवाऊँ और मेरी इच्छा थी कि अपने पड़ोस के काछियो के अनुकरण मे एक झोपड़ी डाल लूँ। इन्ही परस्पर विरोधिनी इच्छाओ के फलस्वरूप मेरा मकान तैयार हो गया जो अभी सामने से एक मंजिल है और पीछे से दुमंजिला है।

मै चाहता तो झोपड़ी ही बनाता, परन्तु जिस प्रकार पूर्वजन्म के संस्कारो पर विजय पाना कठिन हो जाता है उसी प्रकार नीव की दीवारे चौड़ी चिन कर उन पर झोपड़ी बनाना असंभव हो गया। प्रत्यक्ष रूप से मूर्ख कहे जाने का भार अपने ऊपर लेने को मै तैयार न था। जब लोग इतनी बड़ी बृटिश सरकार का 'टॉपहेवी' कहने मे नही चूकते, तो मेरे मकान को 'बॉटम हेवी' कहने से किसका मुँह बंद किया जाता। 'टॉप हेवी' के लिए तो एक बहाना भी है—'सिर बड़ा सरदार का' मेरे पास ऐसा कोई

बहाना भी न था। मैं शहर मे रहकर गंवार नहीं बनना चाहता था। मकान फूस से क्या लकड़ी से भी न पटा। उसमे डाटे लगाई गई। उस सम्बन्ध मे मेरे छोटे भाई बाबू रामचन्द गुप्त तथा मेरी श्रीमतीजी के बडे भाई लाला कालीचरणजी ने ठेकेदार महोदय को कई बार डाट-फटकार बताने का मौका पाया।

अब मै डाट का अर्थ समझ गया--डाट ईंट-चूने की उस बनावट को कहते है जो सदा अपना भार लिए धूप और मेह के साथ रण मे डटी रहती है, किन्तु उसे डटी रहने के लिए स्वयं धूप और मेह की पर्वाह न करके डटा रहना पड़ता है और समय-समय पर ठेकेदार को भी डाट देनी पडती है। इस प्रकार मेरा शब्द-कोष (अर्थ-कोष नहीं) बहुत बढ़ गया है, अब मै कछ, डाढ़ा, चीरा, हॉफ-सेट, होल-पास, नासिक, चश्मा, ठेवी आदि वस्तुकला के पारिभाषिक शब्दो का अर्थ समझने लगा हूॅ। एक बात और भी मालूम होगई है। आजकल की सभ्यता की काट-छाट का प्रभाव वस्तुकला पर भी पडा है। इस युग मे मूॅछे कट-छट कर तितली बनी और फिर तितली बनकर उड़ गई। कोट आधे हो गये। पेंट भी शोर्ट होगई। कमीज की बॉहे और गले मुख्तसर बनने लगे। जूतो का स्थान चप्पल और सेन्डलो ने ले लिया। नाटक एकाङ्की ही रह गया। इसी प्रकार मकानो मे चौखट न बनकर तिखट बनने लगी। आजकल की चौखटो के नीचे की बाजू नही होती सूर के बाल-कृष्ण को देहली लांघने मे जो कठिनाई हुई थी वह मेरे नाती-पोतो को नहीं होगी।

अर्थकोष के क्षय के साथ शब्दकोष की वृद्धि उचित न्याय है—'एवज मावजा गिला न दारद।' इधर का लेखा उधर बराबर हो गया। और नहीं तो परि वृत्ति अलंकार का एक नया उदाहरण मिल गया है। बेर देकर मोती लेना कहूॅ या इसका उल्टा ?

जिस प्रकार शुरू में जनमेजय के नागयज्ञ की तरह ईंट-चूने का स्वाहा होता था उसी प्रकार पीछे धन का स्वाहा होने लगा, और मैं भी घर फूँक तमाशा देखने का अस्पृहणीय सुख अनुभव करने लगा। एक के बाद दूसरी पासबुक चुकती हुई, फिर कैश-सार्टिफिकेटों, पर नौबत आई और पीछे रिजर्व बैंक के शेयर वारंट भी जो भाग्यशालियो को ही मिले थे, अछूते न रहे। वे वेचारे भी काम आये। मै 'पुरुष-पुरातन की बधू' के मादक संसर्ग से मुक्त हो गया, अस्तु यह थोड़ा लाभ नहीं। कविवर विहारीलाल ने कहा है।

"कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वा खाए बौराय नर, वा पाये बौराय॥"

अब मुझे कनक (धन) मद न सता पायगा, और मैं बौराया न कहाँऊगा। दार्शनिक के नाते यदि कोई मुझे पागल कह लेता, तो मै इसे दार्शनिक होने का प्रमाण-पत्र मानकर प्रसन्न होता, किन्तु धन मद से लाञ्छित होना मै पाप समझता हूँ। कांग्रेसी मंत्रि-मंडल पर अनंत श्रद्धा रखता हुआ भी मै यह कहने को तैयार हूँ कि धन के मद से तो भंग-भवानी और वारुणीदेवी का मद ही श्रेयस्कर है। इसमें अपना ही अपमान होता है दूसरे का तो नही।

एक महाशय ने मेरे घर के तहखाने को देखकर कहा कि आपके घर मे ठंडक तो खूब रहती होगी? मैंने उत्तर दिया, जी हाँ। जब रुपए की गर्मी न रही, तब ठंढक रहना एक वैज्ञानिक सत्य ही है। इस पर उन्होने तहखानों के संबंध मे सेनापति का निम्नलिखित छंद सुनाया—

"सेनापति ऊँचे दिनकर के चुवति लुवैं नद, नदी, कुँवैं
कोपि डारत सुखाइ कै। चलत पवन, मुरझात उपवन बन,
लाग्यौ है तपन, डार्यो भूतलौ तपाइ कै, भीषम तपत रितु,

ग्रीषम सकुचि ताते सीरक छिपी है तहखानन में जाइ कै।
मानौ सीत-कालै, सीत-लता के जमाइवे कौ, राखे है
विरंचि बीज धरा मे धराइ कै ॥

मैने कहा भाई साहब वस्तु हाथ से गई, फिर छाया भी न मिले, तो पूरा अत्याचार ही ठहरा। पहले के लोगो के तहखाने धन से भरे रहते थे, अब छाया ही सही। यदि गेहूँ नही तो भूसा ही गनीमत है।

धन का रोना अधिक न रोऊँगा। अब और लाभ सुनिए। बाहर मकान बनाने का सब से बड़ा प्रलोभन यह होता है कि उसमे थोड़ी सी खेती-बारी करके अपने को वास्तव में शाकाहारी प्रमाणित किया जाय। मेरी खेती भी उन्ही लोगो की सी है जिनके लिए कहा गया है—

"कर्महीन खेती करैं, बर्ध मरे या सूखा परै।"

जब घर बनाने के लिए डेढ़ रुपया रोज खर्च करके दूसरे के कुँए से पैर चलवा कर हौज भरवा लेता था तब तक ही खेती खूब हरी-भरी दिखलाई देती थी। माली महोदय भी "माले मुफ्त दिले बेरहम" की लोकोक्ति का अनुकरण करते हुए पानी की कंजूसी न करते थे। उन दिनो चाँदी की सिचाई होती थी, फिर भी शाक-पात के दर्शन क्यो न होते? पालक के शाक की क्यारी तो कामधेनु सिद्ध हुई। जितनी काटते उतनी ही बढ़ती। वह वास्तविक अर्थ मे पालक थी। गोभी के फूल भी खूब फूले। उन्हे अधिकार से खाया भी क्योकि श्रीमद्भगवद्गीता मे फलों का ही निषेध किया गया है, पत्तो और फूल का नही। भगवान् ने कहा है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मां फलेषु कदाचन।" किन्तु जब मकान बन चुका तो अपने ही आप पानी देने की नौबत आई। अब तो श्रीमद्भगवद्गीता का वाक्य अक्षरशः सत्य होता दिखलाई देता है। दिन-रात की सिंचाई के बाद भी पत्र और

पुष्प ही दिखलाई देते हैं। खेत सींचने में निष्काम कर्म का आनन्द मिलता है। मेरी खेती पर मालूम नहीं, अगस्त्यजी की छाया पड़ गई है कि जल से प्लावित क्यारियों मे शाम तक पानी का लेश-मात्र भी नही रहने पाता। बाबा तुलसीदासजी का अनुकरण करते हुए कह सकता हूँ—जैसे खल के हृदय मे संतो का उपदेश। भगवान् की तरह मै भी कुंए पर खड़ा हुआ रीतो को भरा और भरो को रीता किया करता हूँ। मालूम नही भगवान् इस स्पर्द्धा का क्या बदला देंगे? इतना संतोष अवश्य है कि मेरे कुएँ का पानी मीठा निकला है। इसमे पूर्वजों का पुण्य-प्रताप ही कहूँगा। कुएँ का जल ऐसा है कि कभी-कभी मुझे क़सम खानी पड़ती है कि यह नलका नहीं है। "तातस्य कूपोऽय-मिति ब्रुवाणः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।" अर्थात् बाप-दादों का कुआँ है, ऐसा कह कर कायर पुरुष खारा पानी पीते है। सौभाग्य से मेरी संतान के लिए ऐसा न कहा जायगा।

मेरी खेती मे से सिर्फ इतना ही लाभ है कि मुझे पौदों की थोड़ी-बहुत पहचान होगई है। मैं लौकी और काशीफल, टिंडे और करेले के पत्तो में विवेक कर सकता हूँ। मैं देहली दरवाजे रहते हुए भी देहली के उन लोगों मे से नहीं हूँ जिन्होंने कभी अपनी उम्र मे चने का पेड़ नही देखा। बहुत कुछ जमा लगने पर मै यह तो न कहूँगा कि कुछ न जमा। जमा सिर्फ इतना हो कि मेरे यहाँ की भूमि बंध्या होने के दोष से बच गई। जिस प्रकार हजरत नूह की किश्ती मे सब जानवरो का एक जोड़ा नमूने के तौर पर बच रहा उसी प्रकार मेरी खेती मे विद्यार्थियो की शिक्षा के लिए दो-दो नमूने हर एक चीज के मिल जायंगे और बाबा तुलसीदासजी के शब्दो मे यह न कहना पड़ेगाः—

'ऊसर बरसे तृण नही जामा।
संत हृदय जस उपज न कामा॥'

जमीन को क्यो दोष दूँ। मेरी खेती पर चिड़ियो की भी विशेष कृपा रहती है। वे मेरे बोए हुए बीज को जमीन मे पड़ा नहीं देख सकती और मैं भी खेत चुग लिए जाने के पूर्व सचेत नही होता। फिर पछतावे से क्या ?

मैं अपनी छोटी सी दुनियाँ मे किसानो की अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभा', शुका: सभी ईतियो का अनुभव कर लेता हूँ। सोचा था—वर्षा के दिनो मे खेती का राग अच्छा चलेगा किन्तु गढ़े मे होने के कारण साधारण वृष्टि भी अतिवृष्टि का रूप धारण कर लेती है। दो रोज की वर्षा मे ही जल-प्लावन होगया। सृष्टि के आदिम दिनो का दृश्य याद आगया। मुझे भी अभाव की चपल बालिका चिन्ता का सामना करना पड़ा। पसीना बहाकर सींचे हुए वृक्ष, जिन्हे बड़ी मुश्किल से ग्रीष्म के घोर आतप से बचा पाया था, जल-समाधि लेकर विदा हो गये। जीवन (जल) ही उनके जीवन का घातक बना।

शहर से कुछ दूर होने के कारण मेरे नापित महोदय मेरे ऊपर अब कृपा नही करते। यद्यपि मेरे नापितदेव धूर्त्त तो नही है तथापि नापित को शास्त्रो मे धूर्त्त कहा है। 'नराणां नापितो धूर्त्त:'। इस प्रकार मेरा एक धूर्त्त से पीछा छूटा। जो तृतीय श्रेणी के न्यायी ब्राह्मण मेरे ऊपर कृपा करना चाहते है उन पर कृपा करने से मुझे संकोच होता है। अब मैं स्वयंशेवक (स्वयं शेव करने वाला) बन गया हूँ और देश के हित मे टमाटर और पालक के विटैमिन–बाहुल्य से बने अपने अमूल्य रक्त के दो चार विन्दु नित्य समर्पण करना सीख गया हूँ। शायद सर कटाने की कभी नौबत आय तो इतना संकोच नही होगा। सर के बजाय बाल तो दो-चार महीने मे और नाखून दो-एक सप्ताह मे कटवाही लेता हूँ। फिर भी लोग कहते है बलिदान का समय नही रहा।

मैं अपने मकान तक पहुंचने के रास्ते के सम्बन्ध मे दो एक बात कहे बिना इस लेख को समाप्त नही कर सकता । उससे मुझे जो लाभ हुआ है वह उमर भर नही हुआ था । मैंने अपने जीवन मे इस बात की कोशिश की थी कि दूसरो को धोका न दूँ; इसलिए मुझे गालियाँ भी शायद ही मिली हों । लेकिन इस सड़क की बदौलत मुझे इक्के-तांगे वालों से रोज गालियाँ सुननी पड़ती है । पीठ फेरते ही वे कह उठते हैं । "बेईमान दिल्ली-दरवाजे की कहकर गांव के दगड़े में खींच लाया हैं । मै भी उनके गालियो का विवाह की गालियो के समान आदर करता हूँ, और चुङ्गी के विधायको का स्मरण कर लेता हूँ कि—"कबहुँक दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान ?" गाँव की सड़के भी इसकी प्रतिद्वन्दता नही कर सकती । बन जाते हुए श्रीरामचंद्रजी के सम्बन्ध मे तुलसीदासजी ने कहा है--"कठिन भूमि कोमल पदगामी ।" मेरे लिए शायद उन्हे कहना पड़ता "कोमल भूमि कठिन पदगामी ।" पवित्र ब्रज रज तथा खाके बतन स पूर्ण इस सड़क मे जूते इस प्रकार से समा जाते है जैसे किसी साहब के ड्रांइगरूम के कुशन मे शहर के किसी मोटे रईस का सारा शरीर । यदि कही जूतो को धूलि धूसरित होने से बचाकर उनकी शान रखना चाहूँ तो, दूसरो की कोठी में ट्रेसपास करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नही । किन्तु इसमे मेरी शान जाती है । दूसरी कोठियो के लोग वाणी से तो नहीं किन्तु कभी-कभी मधुर व्यंग्य) द्वारा अवश्य विरोध करते हैं ।*

---

*चुङ्गी की कृपा से अब कोलतार की सडक बन गई है । उसकाली सड़क ने मेरा और चुङ्गी का मुख उज्ज्वल कर दिया है किन्तु वह प्रेम गली की भाँति अति साकरी है 'जा में दो न समाँय' ।

रात्रि को जब घर लौटता हूँ तो कबीर के बताये हुए ईश्वर मार्ग की कनक और कामिनी रुपिणी बाधाओ के समान 'सूद' और 'लाल' की कोठियॉ मिलती है। मेरी पदध्वनि सुनते ही उनके श्वान-देव उन्मुक्त कण्ठ से मेरा स्वागत करते हैं। उनके लिए मुझे दण्डधारी होकर कभी-कभी उद्दण्ड होना पड़ता है। अब मुझे इन स्वामिभक्त पशुओ के नाम भी याद हो गए है। एक का नाम टाइगर है और दूसरे का कालू। नामोच्चारण करने से दण्ड का प्रयोग नही करना पड़ता। जब इन घाटियो को पार कर लेता हूँ तभी जान मे जान आती है। हमारे घरो मे ही बिजली का प्रकाश है किन्तु रास्ते मे पूर्ण अन्धकार का साम्राज्य रहता है और मुझे उपनिषदो का वाक्य याद आ जाता है "असूर्या नामते लोका अन्धेन तमसा वृता" मालूम नही उस के लिए कौनसे पाप का उदय हो जाता है। "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की प्रार्थना करता हुआ जैसे-तैसे राम-राम करके घर पहुँचता हूँ। रोज सबेरा होता है और उन्ही मुसीबतो का सामना करना पड़ता है।

इन सब आपत्तियो को सहकर भी बस इतना ही संतोष है कि उन्मुक्त वायु का सेवन कर सकता हूँ और बगीचे के होते हुए मुझे यह समस्या नही रहती कि क्या करूँ? जूतियॉ सीने से अधिक श्रेयस्कर काम मिल जाता है। शास्त्रकारो का कथन है—

'बेकार मुबाश कुछ किया कर,
यदि कुछ न हो तो जूतियां सीया कर।'

और कुछ नही होता तो खुरपी लेकर क्यारियो को ही निराता रहता हूँ, और चतुर किसानो मे अपने गिने जाने की स्पर्द्धा करता रहता हूं—

"कृषी निरावहिँ चतुर किसाना"। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने सन की गांठ के आधार पर बाबा तुलसीदासजी को किसनई का पेशेवाला प्रमाणित किया है। इस बात से मुझे एक बड़ा

सन्तोष हो जाता है कि और किसी बात में न सही तो खेती के काम में ही भक्त शिरोमणि की समानता हो जाय।

अब मेरा यह निष्कर्ष है कि मुझ जैसे बेकार, सकल साधन-हीन आदमी को—जिसके यहाँ न कोई सवारी-शिकारी और न दो चार नौकर चाकर है (वैसे तो हमारे उपनिवेश के सभी लोग 'स्वयं दासास्तपस्विनः' वाले सिद्धान्त के मानने वाले हैं) —कोठी बनाकर न रहना चाहिए।

नर से नारायण

(मेरा मकान बाढ़ में—२)

ताजा-ब-ताजा नौ-ब-नौ गर्मागर्म प्रतिक्षण की टटकी खबर सुनने के अभ्यस्त नारद मुनि के अवतार स्वरूप समाचार पत्रों के समुत्सुक पाठको को जब सात समुन्दर पार विलायत की भी एक छाक की पुरानी खबरें बासी और बेमजा लगती हैं तब उनको आगरे की कई महीने की पुरानी बात सुनाना उनकी सुरुचि का अपमान करना ही नहीं है वरन् उनको 'ब्लेक होल' की यातना देना होगा। इस बात को भली प्रकार जानते हुए भी मैं आगरे में आई हुई सितम्बर १६३६ की बाढ़ का हाल सुनाने का दुस्साहस कर रहा हूँ।

उस समय मै स्वयं बाढ़-पीड़ित हो करुणा का पात्र बना हुआ था। मेरे होश ठिकाने न थे। कहता भी तो क्या कहता? कुँएँ मे गिरा हुआ मनुष्य जब तक उससे बाहर न निकल आये तब तक अपने गिरने का हाल कैसे बताये? अब मेरा मकान कुछ-कुछ पूर्व स्थिति पर आ चला था। ईश्वर की परम कृपा और पूर्वजो के पुण्य-प्रताप से सर के ऊपर की छत तो बची हुई थी लेकिन फर्श बैठ जाने से मेरे पैरों तले की जमीन खिसक गई

थी। बिना त्याग और तपस्या के घर ही वन बन गया था। कमरों में खाइयाँ और पहाड़ दिखाई देते और कुछ दिन के लिए सरिता तो नहीं घर सरोवर अवश्य बन गया था। गिट्टी के नुकीले टुकड़े जो भारत माता के लाड़िले सपूतों की भाँति एक दूसरे से मुँह मोड़े पड़े हुए थे, मेरे कोमल पदो मे तो क्या कठोर पदो मे भी आघात पहुँचाने के लिए पर्याप्त थे। उनको देखकर मुझे एक फरासीसी रहस्यवादी महिला को जिसका नाम मेडन ग्वेन था याद आ जाती थी। उसके बारे मे कहा जाता है कि वह अपने जूतो मे इसलिए ककड़ डाल लेती थी कि उसके शरीर को कष्ट पहुँचता रहे, वह विलासिता मे न पड़े और ईश्वर को याद करती रहे। मैं भी खुदाताला का हजार हजार शुक्र बजा लाया कि उसने मुझे अपनी याद का सामान मुहैया कर दिया था।

वरुण महाराज की कृपा

बाढ़ की बात अभी तक न सुनाने का एक कारण और भी था। वह यह कि खबर को सरस कहानी का रूप देने के लिए कुछ समय की जरूरत होती है। पाल में रक्खे हुए आमो मे ही रस आता है। बाढ़ चली गई लेकिन उसका प्रभाव अभी तक यत्र-तत्र-सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है। इसलिये बात नितान्त पुरानी भी नही हुई है। जगबीती न सुना कर पहले आप बीती ही सुनाऊँगा। 'अव्वल खेश बादहू दरवेश'। खैर अब सुनिए। सितम्बर के महीने मे, आगरे मे पानी की त्राहि-त्राहि मच हुई थी मैंने भी वैश्य धर्म के पालने के लिए पास के एक खेत में चरी बों रक्खी थी। ज्वार की पत्तियाँ ऐठ-ऐठ कर बत्तियाँ बन गई थी। मै भी जीव-दया प्रचारिणी सभा का भूतपूर्व मेम्बर होने के नाते नौनिहाल किन्तु अब तन मन मुर्झाये हुए नौ उम्र पौदों की बेकसी पर और अपनी गाढ़ी कमाई के बीस रुपयो की बरबादी

पर दो चार आँसू बहा देता। लेकिन उनसे होता क्या ? यदि वे रीतिकालीन काव्यों की विरहिणी गोपिकाओ के समान भी होते जिनसे कि समुद्र का पानी खारी हो गया था तो भी वे खारी होने के कारण सिंचाई का काम न देते। खैर फिर भी गरीब किसानों की सार को भस्म करने वाली आहो के बादल बनते दिखाई दिये, 'दिग्दाहो से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के, ऐसा मालूम' होने लगा कि अब दीनदयाल के कान मे भनक पड़ी और शायद यह न कहना पड़े 'का वर्षा जब कृषी सुखानो'। 'धूम-धुआँरे कारे कजरारे' श्याम घनों को देख कर मेरा मन-मयूर नृत्य करने लगा। बादलो की उपयोगिता की अपेक्षा में उनके सौन्दर्य से अधिक प्रभावित होता हूँ। बाहर घूमता फिरा, नन्ही-नन्ही बूँदों के सुखद शीतल स्पर्श से पुलकित हुआ। आनन्द और कर्तव्य तथा श्रेय-प्रेय का समन्वय करने कालेज भी गया। यद्यपि मेरी सदा छुट्टी सी ही रहती है तो भी कालेज बन्द हो जाने से बालकपन के संस्कारोंवश प्रसन्नता का अनुभव किया। धुली-धुलाई सड़को की स्निग्ध, चमकीली छटा तथा चारो ओर के नयनाभिराम छायावादी आर्द्र सौन्दर्य का आस्वादन करता हुआ हँसता-खेलता, खेती की ओर हर्ष-पूर्ण दृष्टिपात करता हुआ उमङ्ग भरे हृदय के साथ घर लौटा।

घर या तालाब

मेह के कारण शरीर मे जो स्फूर्ति आई थी उससे प्रेरित हो लिखने बैठ गया। कभी-कभी बाहर जाकर मेघाच्छादित गगनमण्डल की शोभा निरख लेता था। किन्तु मै यह नहीं जानता था कि इस सौन्दर्य में इतना विष भरा है। कभी-कभी पीछे की ओर बगीचे मे जाकर शेफाली की उदार सुमन-वर्षा का तथा धोये-धोये पत्तोवाली हरित-ललित-यौवन भरी लहलहाती

लौनी लताओं के सौन्दर्य-मधु को अपने सतृष्ण नेत्रों द्वारा पान कर लेता था।

पीछे की तरफ प्रायः एक फुट पानी भर गया। मेरी सौन्दर्योपासना अविचिलित रही क्योंकि ऐसा कई बार हो चुका था। बच्चे भी घर की गङ्गाजी में कागज की नावें तैरा कर खुश हो रहे थे। मैं अपनी सूखी खेती के पुनर्जीवन प्राप्त करने के स्वप्न मे मग्न था। सायङ्काल तक सारा दृश्य रस के दोनो अर्थों मे रसमय था। वह जलमय था और आनन्दमय भी। यद्यपि पानी के साथ थोड़ी-थोड़ी आशङ्का बढ़ रही थी तथापि मामला रस से विरस नहीं हुआ था। 'सिमिट सिमिट जल भरहि तलावा' जिस प्रकार सज्जन के पास सद्गुण आते है अथवा आजकल के युग मे बेकारों की अर्जियों से दफ्तर बन जाते है वैसे ही चारो ओर के पानी से मेरे पास की जमीन तालाब बनी हुई थी। घर मे इस बात का प्रश्न अवश्य उठा था कि कहीं तालाब अपनी मर्यादा का उल्लङ्घन करके अपने विस्तार को मेरे घर तक न ले जाय; किन्तु वह शङ्का असम्भव मान कर टाल दी गई। उस समय कुछ किया भी नहीं जा सकता था। मेरे सेलरों के रोशनदान तीन फुट की ऊँचाई पर थे। यह सब ऊहापोह हो ही रहा था कि पास की जमीन का पानी मर्यादा के बाहर होकर मेरी जमीन मे आ गया। वह क्यों न आता? मेरे मकान मे बाउन्ड्री वाल भी नहीं थी। मैं देश और राज्य की सीमाओं को जब क्षुद्र समझता था तब घर के चारों ओर क्यो सीमा बाँधता? मैं तो अनन्त का उपासक ठहरा। मै रवीन्द्र बाबू के साथ स्वर में स्वर मिला कर तो नहीं— (मेरा कण्ठ कर्कश है उनका कोमल था। मुझे तानसेन की कब्र की इमली की पत्तियाँ खाने पर भी गाना नहीं आया) परन्तु उनके भाव से तादात्म्य कर कहा करता था—'जेथा गृहेर प्राचीर

आपन प्राङ्गण तले दिवसशर्व्वरी। वसुधारो राखे नाइ खण्ड क्षुद्र करि। फिर मै अपने ममान का दूसरो के मकान से पार्थक्य क्यो करता।

अन्धेन तमसावृता

थोड़ी ही देर मे पानी रोशनदान के मुँह तक पहुँच गया और उनमे होकर जलप्रपात होने लगा। नाइग्रा फॉल मैंने देखा तो नहीं है किन्तु उसीका सा कुछ-कुछ दृश्य उपस्थित हो गया।

मै अपने तहखाने के रोशनदानो पर गर्व किया करता था कि मै उनके कारण सायंकाल को भी उनमे बैठ कर लिख पढ़ सकता था। जो महाशय मेरा मकान देखने की कृपा करते उनसे मैं अपने तहखानो के आरपार वायुसंचार की तारीफ बड़ी प्रसन्नता के साथ करता था क्योकि उससे मुझे अपनी टूटी-फूटी शान और स्वास्थ्य-विज्ञान संबन्धी ज्ञान के प्रदर्शन का मौका मिल जाता। क्रॉस वेन्टीलेशन की शान ही वबाले-जान बन गई। सौन्दर्य-प्रिय होते हुए तहखाने के झरनो को पुष्ट मांसल सौन्दर्य का आस्वादन न कर सका। यदि घर फूँक तमाशा भी देखना चाहता तो नामुमकिन हो गया था। एक साथ बिजली ठप हो गई। घर फूँक तमाशा देखनें वाले को कम से कम प्रकाश की तो जरूरत नही होती। यहाँ तो पूर्व-जन्म के पापो के उदय होने के कारण 'असूर्या नाम ते लोका: अन्धेन तमसावृता' का दृश्य उपस्थित हो गया। घनी कालिमा बिना स्तर स्तर जमे ही पीन होने लगी। सूचीभेद्य अंधकार का साम्राज्य हो गया। हाथो हाथ नहीं सूझता था। दायाँ हाथ बाये हाथ की बात नही जान सकता था। सर से सर टकराने की नौबत आगई थी। 'तमसो मा ज्योर्तिगमय' की पुकार होने लगी।

मेरे घर मे कोई सिगरेट बीड़ी नही पीता इसलिए उसमें

कभी-कभी दियासलाई का मिलना ऐसा दुश्वार हो जाता है जैसे कि आजकल के बाबू लोगो के घर मे गङ्गाजल, चन्दन और माला का, अथवा किसी रायबहादुर के घर मे गान्धी टोपी का। उस समय दियासलाई का मिलना ज्योतिस्वरूप एवं ज्योतिस्रोत परामात्मा के मिलने के बराबर हो गया। लालटेन स्नेह शून्य निकली। एक टूटी-फूटी टार्च थी किन्तु उसके ढूँढने के लिए भी टार्च की ज़रूरत पड़ती। सन्दल घिसने की भाँति वह कम सर दर्द न था। उस समय के अन्धकार मे मेरी अव्यावहारिकता पर विद्युत प्रकाश पड़ रहा था। और सेलरों के निर्भर मेरी महान मूर्खता की सनाद घोषणा कर रहे थे। खैर, जैसे-तैसे दीपक का आयोजन हुआ। उसको झंझावात का सामना करना पड़ा। हथेली और अञ्चल से उसकी कहाँ तक रक्षा होती ? मेरे चाकरदेव पड़ोस से लालटेन लाये। इतने में मेरा चालीस फुट लम्बा सेलर सेन्ट-जॉस कालेज के स्विमिंग-बाथ की होड़ करने लगा। हम लोग शान्ति पूर्वक सबके साथ भीतर घर मे बैठ गये। सोचा कि चलो यह भी तजुर्बा हो गया। विश्वकर्मा के साक्षात अवतार श्रीमान भौंदाराम जी ठेकेदार की बात कि 'हुजूर दरिया में घर बनाते है' जिजमान के बालो की भाँति सामने आगई। प्रलयपयोधि उमड़ रहे थे। 'प्रालेय हालाहल नीर' बरसने लगा। मेरे दरिया मे तूफान आगया।

नूह की किश्ती की खोज

मैं अपने हाल को नूह की किश्ती या मनु की नौका समझ रहा था। उस समय तक भी, 'अभाव की चपल बालिका, चिन्ता की प्रथम रेखा मेरे ललाट प्राङ्गण मे खेलती हुई नही दिखाई दी किन्तु थोड़ी ही देर मे पास के कमरे से 'चलियो' की आवाज आई। मेरे बाग के माली महोदय श्री मंगलदेवजी जो मेरे मंगल-विधान मे

सदा दत्तचित्त रहते थे। चिल्ला उठे 'बाबूजी उधर ही रहना' मै समझा कहीं से साँप आगया। खैर यह भी सही। मेरे दूसरे चाकरदेव श्रीरणधीर जी ने बडी धीरता-पूर्वक कहा कि कुछ नहीं ज़मीन बैठ गई है। बड़े आदमियो की भाँति उसकी बात भी आधी सच थी। जमीन बैठी थी और फर्श के पत्थर आपस मे सर से सर मिला खड़े हो गये थे, मानों वे सचेत होकर मेरे परित्राण का उपाय सोच रहे हो। उसी समय मेरे सामने मेरी गुर्विणी महिपी (भैस) की, जिसको कलियुग के व्यासजी ने अपनी कविता से अमर कर दिया है, समस्या मेरे सामने आई। उसका छप्पर भी तालाब बन चुका था। उस पर एक त्रिपाल डाल कर उसे दरवाजे पर खडा किया। बहुत कोशिश करने पर भी उसने बरामदे मे पैर न रक्खा शायद वह जानती थी कि उसका भी फर्श धसकेगा।

मेरे पड़ोसी सेन्ट जान्स कालेज के सेक्रेटरी ए० एन० बनर्जी साहब अपनी व्यवहारकुशलता की दिव्य दृष्टि से मेरा भविष्य देख चुके थे। वे शाम को ही कह गये थे कि यदि कोई तकलीफ हो तो उनका मकान मेरे 'डिसपोजल' पर है। उस समय तो मैंने उनका सहानुभूति-पूर्ण निमन्त्रण स्वीकार नहीं किया था किन्तु जब मेरे घर के सामने भी पानी बहने लगा और मेरा मकान प्रायद्वीप से द्वीप बन गया, बराण्डे और शयनागार का भी फर्श बैठ गया और उनकी टाइलें मेरे बैठते हुए दिल की समता करने लगी तब जल्दी से मैंने बनर्जी साहब का निमन्त्रण स्वीकार किया। मकान से ताला लगा कर उनका द्वार खटखटाया उन्होंने मुझे, मेरे नौकर तथा मेरी भैस को अपने यहाँ आश्रय दिया। चिन्ताग्रस्त मनुष्य को जितनी निद्रा आ सकती है उतनी ही नहीं, उससे कुछ अधिक निद्रा मुझे आई क्योकि कोठी के लिए तो मैंने कड़ा जी कर मन मे सोच लिया था 'इदन्न मम इदं

वरुणाय।' निद्रा भङ्ग करने की यदि कोई बात थी तो पड़ोस के काछी-कुम्हार सज्जनों और सज्जनाओ की करुण पुकार थी। मेरी भैस तो सुरक्षित थी किन्तु गरीब लोगो के जानवर चिल्ला रहे थे। बहुत कोशिश करने पर भी मै उनकी कुछ सहायता न कर सका, अन्धकार और जल के कारण 'समुझ परहि नहि पथ' की बात हो रही थी।

भीगे नयनों के सामने

सुबह उठकर जलप्लावन का व्यापक एवं भयङ्कर दृश्य देखा। मनु की भाँति 'भीगे नयनो से' तो नही कुछ करुण हास्य के साथ 'मै देख रहा था प्रलय प्रवाह' और मुझे भी एक ही तत्व की प्रधानता 'कहो उसे जड़ या चेतन' दिखाई पड़ती थी। मै स्वयं अपने को कामायनी का मनु ही नही वरन् स्वय नारायण समझने लगा। 'नारासु अयनं यस्य सः नारायणः' मेरा घर भी पानी मै था फिर मेरे नारायण होने मे क्या कसर थी? इस प्रकार बिना करनी के ही मै नर से नारायण बना।

प्रातःकाल ही आगरे के महेन्द्रजी अपने स्वर्गस्थ नामरासी की काली करतूतो की आलोचना करने निकल पड़े थे। वे आजानु जल को पार कर मेरे यहाँ पधारे। मैने अपनी समस्या का भार उनके सुविशाल स्कन्धो पर रख दिया। उन्होने 'शुक्ल-श्यामाङ्गशोभाढ्या नगरभाग्यविधायिनी, उर्वशीस्वरूपा चिरयौवना श्रीमती चुङ्गी देवी के रसिकपति श्री सेठ ताराचन्दजी से आग बुझाने का इंजन, पानी की बाधा शमन करने के लिए, माँगने का वायदा कर लिया। इञ्जन आया लेकिन अधिक प्रभावशाली और मुझसे कम मुसीबत जदः लोगो के हाथ पड़ गया। स्वार्थों का संघर्ष था। करता भी तो क्या करता? उनके घर के आगे पक्की सड़क थी, मेरे घर के आगे वीनस नगर की सी पानी

की सड़क। विधि के विधान से क्या वश चलता।

उस रोज सिवाय सहानुभूति प्राप्त करने के कुछ न कर सका महाभारत मे कथा है कि एक टिटहरी ने चोंच से समुद्र खाली करने का साहस किया था। हमारे पहले दिन के उद्योग तो करीब करीब वैसे ही रहे। कुम्भज भगवान अगस्त देव की कृपा न हो सकी। उनकी मौसी बाल्टी देवी की जो कुम्भ की सगी छोटी परन्तु भगिनी है गति न थी क्योंकि पानी फेंका भी जाता तो कहाँ? चारों ओर जल था। दूसरे दिन अगस्त्य ऋषि का यांत्रिक अवतार फायर बिग्रेड का पम्प टन-टन करता हुआ आया। उसके लिए सिलीपरो की सड़क तैयार करने मे विद्यार्थियो ने, जिनमे अधिकतर आगरा कालेज के थे, भगीरथ-प्रयत्न किया। घर मे कुल सोलह सिलीपर थे। विद्यार्थीगण पीछे के सिलीपरो को आगे लाकर सड़क बनाते-बनाते उसे मेरे घर ले आये। उस रोज की भीषण वर्षा के कारण फायर बिग्रेड को भी हार माननी पड़ी, जितना पानी निकलता उतना ही रक्तबीज की भाँति और बढ़ आता। बिचारे विद्यार्थियो ने, जिनमें निजी सम्बन्ध के कारण केवल नृपतिसिह सत्यदेव पालीवाल, चिरंजीलाल एकाकी, पद्मसिह शर्मा, तारासिह धाकरे, प्रमोद चतुर्वेदी का नाम मुझे स्मरण है, कमर कमर पानी मे घुस कर बाहर का पानी रोकने के लिए मिट्टी भरे बोरो का बाँध बाँधा, किन्तु सब निष्फल हुआ। प्रकृति के तत्वो से लड़ना हँसी-खेल न था।

टिटहरी प्रयत्न

तीसरे दिन फिर टिटहरी प्रयत्न शुरू हुए। थालियो से पानी उलीचा गया, चौथे दिन परोहे लगे। पाँचवे दिन बड़ी शिफारिसों से, चेयरमैन साहब के सामने प्रार्थी की भाँति खड़े होकर अर्ज-पर्दाज करने पर इंजन मिला। सेलर का पानी निकला और फिर

संघों से आया। फिर बाल्टियों और परोहों की शरण ली गई। बचा-कुचा कुछ पानी धरती माता ने सोखा और कुछ कुएँ ने पिया। इस प्रकार पूरे सप्ताह बाद जल बाधा मिटी। शायद व्रज पर भी सात रोज कोप रहा था।

पाँचवे रोज सेन्ट जॉन्स कालेज के स्काउटो द्वारा सेलर का सामान निकला। लोगो ने अफवाहे उड़ा रक्खी थी कि मेरे घर मे ८०००) रु० का नाज भरा था लेकिन हाँ दो शून्य कम करके ८०) रु० का अवश्य होगा। मेरे इटावा निवासी मित्र श्री सूर्य-नारायणजी अग्रवाल मुझे हाथ के कुटे चावल भेज दिया करते हैं। चावल पाँच दिन जलमग्न रहने के कारण वेदान्ती बन गये थे। अब वे शीघ्र ही सिद्ध होकर व्यक्तित्वाभिमान छोड़ देते हैं और एकरस अखण्डमण्डलाकार हो जाते हैं। श्री गुरुदेवजी (गुड़) कबीर की नमक की पुतली की भाँति रसलीन हो गये थे। मेरे सेलर के चूहे छत से चिपके-चिपके छः दिन तक एकादशी मनाते रहे। बगीचा सब बरबाद हो जाने से अब मुझे माली की भी जरूरत नहीं रही है। मेरी कोठी परीक्षा मे फेल होते-होते बच गई है। मैं शायद अब झूठ भी कम बोलूँ क्योंकि छत गिरने का अब पहले से अधिक भय हो गया है। मेरी छतें न्यायालयो की छतो से, जहाँ एक न एक पार्टी रोज झूठ बोलती है, कुछ कमजोर हैं। मै भी ला-मकाँ (ईश्वर) होते-होते बच गया हूँ 'कोपोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः'।

मेरे घर का तो यह हाल था लेकिन मेरे आस-पास भी बहुत खैर न थी— जेल के पास नावे चलने की नौबत आ गई थी। सेन्ट जान्स गर्ल्स स्कूल भी जलमग्न हो रहा था। बाढ़ का प्रभाव बड़ी दूर तक था। गाँव के गाँव जलमग्न हो गये थे। जाने बहुत तो नही गई पर काफी गई। चार-पाँच दिन बाद जो लोग अपने घर लौट गये थे उनमे से एक परिवार के छः या सात आदमी

दब कर मर गये। पहले दिन जो लोग घर से बाहर गये हुए थे उनको घर लौटना मुश्किल हो गया था। कई जगहे जमीनें बैठ गई थी। आगरा फोर्ट के पास तो सड़क फट गई थी और उनमे एक पुराना घाट निकल आया था, जिसके ऊपर हिन्दू और मुसलमान लोग अपना अपना अधिकार बतलाते थे। खैर अब वह झगड़े की जड़ दबा दी गई है। दो एक जगह सड़क टूट जाने के कारण बिजली के खम्बे भी गिर पड़े थे।

बाढ़-पीड़ितो की लोगो ने अन्न वस्त्रादि से खूब सहायता की सभी शिक्षा संस्थाओ ने छुट्टी करके बाढ़-पीड़ितो को आश्रय दिया। मुझे भी जैन बोर्डिङ्ग में आश्रय मिला था।

अब मै अपने घर की याद कर हॅस सकता हूँ। उन दिनों हास्यरस भी जलमग्न हो जाने के कारण करुणा रस का, जिसके देवता वरुणदेव है, प्राधान्य था। करुणरस के उस लौकिक अनुभव की ईश्वर पुनरावृत्ति न कराये।

आप बीती

(खेती और व्यापार)

उत्तम खेती, मध्यम बञ्ज,
निकृष्ट चाकरी भीख निदान।

ठलुआ-क्लब का सदस्य होने के नाते मेरा सिद्धान्त-वाक्य यही था कि 'अजगर करै न चाकरी, पञ्छी करै न काम, दास मलूका कह गये, सब के दाता राम' फिर भी मेरे पूज्य पितृव्य कहा करते थे 'पूता करिए सोई जामे हंडिया खुदबुद होई।' मेरे पितृचरण जीवित थे इसलिए हॅडिया खुदबुद होने की समस्या बड़े तीव्र रूप मे तो उपस्थित नही हुई किन्तु वह मौत की भांति बहुत दिनो तक टाली न जा सकती थी क्योंकि हमारे यहॉ न जिमीदारी थी न जिजमानी जो बिना हाथ-पैर पीटे घर बैठे ही पैसा आ जाता। यद्यपि वैश्य कुल मे जन्म लेने के नाते उत्तम खेती और मध्यम बञ्ज की ओर मेरा स्वाभाविक आकर्षण अधिक था तथापि परिस्थिति-चक्र मुझे नौकरी की ओर ही घसीट ले गया। मनसूबे तो बहुत बाँधे थे। पक्ष-विपक्ष की युक्तियो के तारतम्य को अपनी चरम सीमा तक ले जाने पर वाणिज्य की अपेक्षा मुझे खेती का नैतिक मूल्य बहुत ऊँचा। किन्तु आर्थिक मूल्य के सम्बन्ध मे

मेरा मन न भरा। साहित्य-सेवा की भाँति वह भी शौक की वस्तु प्रतीत हुई, सहारे की नहीं।

वाणिज्य मे लाभ तो अधिक था 'व्यापारे वसते लक्ष्मी' किन्तु जोखिम भी कम न थी। बिना जोखिम का व्यापार मेरी बाबू-प्रकृति को कुत्ता-घसीटो जँची। मेरे बाबा तो उस कक्षा के दुकानदारो में से थे जो सुबह दुकान झाड़ते वक्त महादेव बाबा से छप्पन करोड़ की चौथाई माँगते है, और दिन भर आँख के अन्धे, गाँठ के पूरे ग्राहको की टोह में रहते हुए भी बस इतना ही घर ले जाते है कि सम्मानपूर्वक दोनो वक्त रोटी खा सके। मेरे पिताजी ने एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास की थी। उनके लिए सरकारी नौकरी का द्वार उन्मुक्त था। वे उसमे प्रवेश कर क्लर्की की अन्तिम श्रेणी यानी जजी की मुन्सरिमी तक पहुँचे। मैंने वकालत भी पास किया था किन्तु उसे भी आकाशी वृत्ति समझ कर निकृष्ट चाकरी की ही शरण लेना पसन्द किया। मै मोची का मोची ही रह गया। रियासत की नौकरी में दौड़-धूप तो काफी थी, उत्तर-दायित्व भी अधिक था, किन्तु कुत्ता-घसीटी न थी। एक जगह बैठ कर कलम घसीटने के भीषण अभिशाप से बचा हुआ था। पुस्त-काध्ययन के लिए भी अवसर मिल जाता था और कभी-कभी 'वाहन कुल की परम गुरु' मोटरकार की सवारी मे आरूढ़ हो इधर-उधर आम-जामन भी खा आता था। किन्तु जब श्रीमान् महाराजा साहब के व्यङ्ग्य-वाणो का सामना करना पड़ता तब सारा नशा हिरन हो जाता। फिर भी जब महीने की पहली तारीख को ठन-ठनाते हुए वर्तुलाकार रजत-खण्डो के रूप मे लक्ष्मीदेवी का आगमन होता था तो चेहरे पर मुस्कराहट की रेखा आये बिना नही रहती।

यद्यपि स्वर्गीय महाराजा साहब उदारतापूर्वक अपने नौकरों को अपना उपकारक समझ उनके अहसानमन्द रहते थे तथापि कभी-कभी स्वाभिमान को आघात पहुँच ही जाता था। लेकिन

तुरन्त आहत स्वाभिमान पर मधुर-हास्य का उपचार कर दिया जाता। नौकर सदा अपराधी होता है। मौन रहने पर मूक और बोलने पर वाचाल कहा जाता है। मेरे लिए ऐसी बात तो न थी, बोलने की पूर्ण नहीं तो अर्धपूर्ण स्वतन्त्रता का अवश्य ही अधिकारी था किन्तु जब कोई विकट समस्या उपस्थित होती और निकास का मार्ग दिखाई न देता तब छटी का दूध याद आ जाता। ऐसे भी अवसर आये जब 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' का सा युधिष्ठरी सत्य का प्रयोग करना पड़ा, अपनी रक्षा के लिए दूसरो को आपत्ति मे डालने के लिए नही। दूसरों को हानि पहुँचाने की शक्ति पर मैंने कभी गर्व नहीं किया।

तबेले के बन्दर की भांति दूसरो की अलाय-बलाय भी मेरे ही सर पड़ती थी। उसके लिए मेरा सर मजबूत हो गया था। 'जो आज्ञा' शब्द जिसकी जिह्वा पर सदा नृत्य करे, जो स्वामि-कार्य को सम्पादन करने में आलस्य न करे, जो अपने दोपो की स्वीकृति मे उदार से भी कुछ अधिक हो, जो मानापमान के द्वन्द्वों से परे हो, जो विद्यार्थियो की भांति श्वान-निद्रा और बकोध्यानी रह कर गृहत्यागी भी हो, जो स्वामी के हित के लिए अपने हित को तिलाञ्जलि दे सके, जो मार खाने पर भी रोये नही, ऐसे नव-गुणो से सम्पन्न महापुरुष ही नौकरी का अधिकारी हो सकता है। नौ बातों को पूरा करने पर 'नौकरी' नाम सार्थक होती है।

महाराजा साहब की उदारता के कारण मुझमे इन नौ गुणों का पूरा विकास नही हुआ। बेईमानी का आसरा लिये बिना भी 'जल बिन्दु निपातेन क्रमशः पूर्यते घटः' के न्याय से मेरे पास धन इकट्ठा होने लगा और मै शीघ्र ही खलो की भॉति बौरा उठा। कृषि गौरक्षा वाणिज्य का वैश्यधर्म सम्बन्धी गीतोपदिष्ट वाक्य का स्मरण कर कभी तो खेती की सोचता और कभी वाणिज्य की। गौ रक्षा नहीं तो दूध-घी की खातिर भैंस-रक्षा

पहले से ही करने लगा था। दोनो कार्यों के करने मे मुझे सहायको की कमी न थी।

खेती मे तो मेरा कलम घसीटने का भार हलका करने वाले मेरे क्लर्क महोदय मास्टर घसीटेरामजी मेरे सहायक ही नहीं साझी भी बन गये। बात असली यह थी कि मै उनका साझी बना। एक खेत स्वतन्त्र रूप से भी किया। उसमे पोटाशियम नाइट्रेट और सनई के हरे खाद से लगा कर गोबर-कूरे का भी खाद दिया। पूसा नम्बर चार और बारह के गेहूँ बीज के लिए मँगवाये। 'कर्महीन खेती करे, वर्द मरे कि सूखा परे', हुई तो दोनों ही बातें किन्तु कुए की खेती होने के कारण वह नितान्त आकाशी न थी। उसमे अधिक उपयोगिता नहीं तो कला अवश्य थी। मूली के सफेद फूल सरसो के पीले फूलो के साथ मिल कर एक नयनाभिराम दृश्य उपस्थित कर देते थे। कविवर निरालाजी तो उसे देख कर इतने प्रसन्न हुए कि उसको आतिशबाजी कहने लगे। ब्राह्मणो के वचनो मे सत्यता रहती ही है। वह दरअसल धन की आतिशबाजी थी।

मेरे पिताजी ने एक बार मुझसे पूछा कि बेटा नौकरी मे कुछ रुपया जमा किया है? मैने कहा—'हॉ, वह खेत मे जमा है।' फिर भी मेरी खेती नितान्त निष्फल नहीं थी। अपनी स्वतन्त्र खेती से तो नहीं किन्तु साझी की खेती से प्रायः साल भर के खाने के लिए गेहूँ और घोड़े के दाने के लिए चने मिल जाते थे। मुझे और क्या चाहिए था? यह कभी हिसाब नहीं लगाया कि जितना रुपया लगा उतना पूरा भर पाया था या नहीं? इसको राम जाने। हिसाब के लिए दिमाग खराब करने की फुर्सत किसे थी?

व्यापार का मुझे कुछ अधिक विस्तृत अनुभव है। खेती मे रुपया न खराब कर मैं रुपया घर भेजने लगा। वह रुपया एक समीपवर्ती अन्न और कपड़े के व्यवसायी के यहाँ आठ आना

सैकड़े के व्याज पर जमा होना शुरू हुआ। व्याज मे अन्न, वस्त्र और घी सभी कुछ मिलने लगा। घर के लोग प्रसन्न थे, बाजार जाने की झंझट से बचे, और रुपया भी न देना पड़ा। एक या दो वर्ष बाद ही मेरे सेठजी को दस पन्द्रह हजार का टोटा आया उसमे वे मेरे भी चार हजार ले बैठे। व्याज के लोभ में मूल भी गया।

साल दो साल बाद फिर कुछ रुपया इकट्ठा हुआ। मेरे एक मित्र ने अरहर की एक खत्ती प्रत्यक्ष रूप से भरने की सलाह दी। खत्तियाँ गो-दान की भाँति प्रत्यक्ष रूप से भी भरी जाती हैं और केवल आंशिक निष्क्रय दे कर अप्रत्यक्ष रूप से भी। मेरे मित्र ने कहा था कि अरहर कभी-कभी चिरोंजी के भाव बिकने लगती है। मैं इसी आशा मे रहा कि ऊने के दूने होगे किन्तु सहसा उनकी चिट्ठी आई कि अरहर का बहुत मंदा भाव हो गया है, वे उसे बेचे डालते है। अधिक रोकने से घुन लगने की सम्भावना थी। चिरोंजी के लालच मे २२००) रुपयो मे ८००) का नुकसान उठाया। मेरे मित्र सज्जन थे, उन्होने पीछे से और किसी काम मे इस नुकसान की पूर्ति कर दी।

मैंने तीन चार बार शेयर भी खरीदे किन्तु जिस कम्पनी में मैंने भाग लिया उस कम्पनी का भाग्य फूटा और साथ ही मेरा भी। रिजर्व बैंक के शेयरों का भाव गिरने पर मैंने उनको बेच डाला किन्तु जब से मैंने उनको बेचा है तब से उनका भी भाव बढ़ गया। 'भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषं।'

लोग बीमा कराना कम जोखिम का काम समझते हैं। जोखिम कम्पनी का अधिक रहता है। किन्तु दो एक कम्पनियो मे तो पौलिसी लैप्स हो गई और जिसमे चलती रही वह लिक्वी-डेशन मे आ गयी।

मैंने रूई और सोने मे भी अपनी भाग्य-परीक्षा की। रूई

पाँच आने की गाय की भाँति अप्रत्यक्ष रूप से भरी थी। उसका भाव-ताव समझने लगा था किन्तु उसमे एक साथ अढाई सौ रुपये की हानि हुई। मुर्गी के लिए तकुए का घाव भी बहुत होता है। मैंने कान पकड़ कर तोबा की, शपथ खाई और बड़े धार्मिक भाव से संकल्प किया 'अबलौ नसानी अब ना नसैहौं'। किन्तु लालच बुरी बलाय है। मन अपना हठ नही छोड़ता, 'मेरो मन हरिजू हठ न तजै।' बस यही हाल मेरे मनका था।

सोना जब बाइस रुपये तोले हुआ तो पचास तोला सोना खरीदने की सूझी। बिना किसी जान पहचान के ही शेयर मार्केट के भाव की गश्ती चिट्ठी भेजने वाली बम्बई की एक फर्म को रुपया भेज दिया। माल न आने पर दुकानदार से तकाजा किया तो उसने कहा एक बार बेचकर दुबारा आपके लिए खरीद लिया इसमे आपको पचास का फायदा हो गया, एक बार फिर ऐसा करूँगा। मै प्रलोभन मे आ गया किन्तु जब तीन महीने तक स्वर्ण के दर्शन नही हुए तब एक आदमी को बम्बई भेजा, वह बिचारे बड़ी मुश्किल से उसको लाये। दूसरी बदली मे दुकानदार ने नुकसान दिखा दिया। फिर भी परमात्मा का शुक्र मनाया। किन्तु बकरे की मां कब तक खैर मनाती? जो वस्तु भाग्य में नहीं होती वह ठहर नहीं सकती। कानपुर मे वह सोना चोर के हाथ लगा और उसके बाद भाव भी ऊँचा चढ़ गया। मैं हाथ मलता रह गया।

फिर भी हिम्मत नही हारी। एक बार आगरे में ही प्रत्यक्ष रूप से चाँदी खरीदने का विचार किया, दलाल लोग शहद की मक्खियों की तरह चिपट गये। मेरे और मेरे सम्बन्धी की, जो मेरे साथ थे, मठेकी रस्सी की भाँति खींचा-तानी होने लगी। मेरे सम्बन्धी पूरे बनिए थे, उनको भाव-ताव करने मे मजा आता था और मुझे झूंझल। रुपया अधिक न होने से आधी सिल मेरे

उन्हीं सम्बन्धी ने ली। सिल कटवाने दूसरी किसी गली में जाना था। सिल के बोझ से आदमी भागता जाता था उसके पीछे हम भी जैसे चोर का पीछा कर रहे हो हांपते-हांपते घुड़दौड़ करते थे। जैसे-तैसे लुहार के यहाँ पहुँचे, वहाँ पन्द्रह बीस सिल रक्खी थी उन दिनो हरएक को चाँदी खरीदने का भूत सवार था। नम्बर आने के लिए शेविङ्ग सेलून के उम्मीदवार की भाँति बहुत देर तक इन्तजार करना पड़ा। शेविङ्ग सेलून मे तो कुर्सी मिल जाती है, कभी-कभी अखबार भी किन्तु इसमे अपनी टाँगो के बल खड़े होने standing on ones legs की शिक्षा थी? उसके बाद तुलवाने की समस्या आई। फिर मजदूर के पीछे भागे। तुल जाने पर मेरे सम्बन्धी अपने गाँव चले गये और मैंने एक डलिया वाले मजदूर की डलिया मे उसे रख कर घर की राह ली। दुकानदार ने मेरी खैरख्वाही दिखाते हुए मजदूर की नीयत साबित रखने के लिए उसे सीसे की सिल का टुकड़ा बतला दिया। मैंने रास्ते में उसे तरकारी-भाजी से आच्छादित कर दिया। मुझे डर था कि कही सत्यनारायण कथा की नौका की भाँति उसमे लता-पता ही न रह जाय, इसलिए उसके पीछे भागना पड़ा। जैसे-तैसे राम-राम करते घर आया। तब दम मे दम आई। खैर इतनी मेहनत करने पर नुकसान नहीं हुआ। उसमे साठ या सत्तर रुपये का लाभ हो गया। आप मरे ही स्वर्ग दीखता है। कभी-कभी मर कर भी नरक भोगना पड़ता है।

इस करुण कहानी को पढ़ कर कोई महाशय व्यवसाय से उदासीन न हो जायँ। वैसे तो 'हानि-लाभ, जीवन-मरण यश अपयश विधि हाथ' है, फिर भी इस हानि मे मेरी अनुभव-शून्यता बहुत-कुछ उत्तरदायी है। बात यह है कि हम लोग बिजनेस में बिना विशेष शिक्षा लिये ही कूद पड़ते है और समझने लगते है कि जिस प्रकार मछली को पानी में तैरने का जन्म-सिद्ध अधिकार

है वैसा ही व्यापार में वैश्यों का। यद्यपि जातिका थोड़ा बहुत अन्तर होता है तथापि सफलता के लिए शिक्षा अनिवार्य है। जिस प्रकार बिना शिक्षा के डाक्टरी करना खतरनाक है उसी प्रकार बिना शिक्षा के व्यापार।

अब तो मैं धक्के खाकर होशियार हो गया हूँ। अब गाँठ में कुछ न रहने पर यह बात गाँठ बाँधली है कि 'आधी छोड़ एक को धावे आधी रहे न, सारी पावे'। परमात्मा करे वह आधी सलामत रहे।

खट्टे अंगूर

(मेरा जीवन-बीमा)

लोगों का कथन है कि दो अत्यन्त प्रतिकूल बातें अन्त में आकर मिल जाती है। यह युग जितना ही क्रियाशील है उतनी ही इसमे बेकारी बढ़ी हुई है। जिस प्रकार दीपक से कज्जल उत्पन्न होता है उसी प्रकार अत्यन्त क्रिया निष्क्रियता की उत्पादक बन रही है। बेकारी का प्रश्न तो कविकुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी के समय से चला आता मालूम होता है, क्योंकि उन्होने कहा है कि—

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख,
बलि बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी ॥
जीविका-विहीन लोग सीझमान सोच बस,
कहै एक एकन सौं कहां जाइ, का करी ॥"

तब तो राम भजन से समय कट जाता था और बेकारी नहीं अखरती थी। बेकारी को मानते हुए गोस्वामीजी ने दो काम भी बता दिये थे। "खाने को टुकड़ा भलो, लेने को हरिनाम" लेकिन अब तो टुकड़े मे भी हानि आगई है और रामजी का नाम कुटिल कलि-काल के कुचक्र से अन्य सद्धर्मों की भांति लुप्त-

प्रायः हो गया है। अब श्री गोस्वामीजी ने अपने कथन में स्वयम् ही निम्नलिखित संशोधन स्वर्ग से वाइरलेस द्वारा भेजा है—"खाने को धक्का भलो, लैने को बिसराम" महात्मा तुलसीदासजी के इस नैराश्य को देख कर एक मनचले महाशय ने उसमे यह अन्तिम संशोधन कर दिया है—

तुलसी या संसार मे, कर लीजे दो काम।
इक चुङ्गी की मेम्बरी, अरु वीमा को काम।

वास्तव मे वीमा के काम ने इस युग मे बहुत से लोगो को जाब्ता फौजदारी की १०७, १०८, १०९ या ११० दफा के चंगुल में आने से बचा दिया है। यद्यपि यह संदेह है कि वीमा के काम से निश्चित रूप से रोटियाँ मिलती है या जेल की चहार दीवारी के भीतर? रोटियां चाहे मिले या न मिले बिना किसी योग्यता के लोग 'एजेन्ट' की पदवी से विभूषित हो जाते है। आजकल सेवा-धर्म बढ़ जाने से अथवा यो कहिए कि डाक्टरो की संख्या मे बढ़ती के कारण साधारण लोगों मे फीस देना ऐसा ही बन्द हो गया है जैसा कि दान-धर्म। किन्तु वीमा कम्पनियो की बदौलत डाक्टरों को पूरी-पूरी फीस के दर्शन हो जाते है। अखबार वाले भी कुछ थोड़े से वीमा सम्बन्धी विज्ञापन प्राप्त कर वीमा कम्पनियो की खैर मनाते हैं।

वीमा कम्पनी की एजेन्सी मिल जाना कठिन बात नही किन्तु पालिसी खरीदने वाले आदमी मिलना इतना सहज नहीं है। जमींदार लोग तो पुश्त-दर-पुश्त के लिए निश्चिन्त है (यदि यह मदेपन का महारोग उनको काल-कवलित न कर ले)। और वोहरे लोगों को विचारे काश्तकार सलामत चाहिए, उनकी दिन-दूनी रात चौगुनी व्याज पक्की है। फिर वे वीमा जैसी संदिग्ध सस्था की क्यो परवा करे? अब रह गये विचारे नौकरी-पेशा और बेकार लोग। नौकरी-पेशा अवश्य कभी-कभी वीमा वालो के

चक्कर में आ जाते है। जहाँ उनसे कहा गया कि देखिए कम्पनी कितनी जोखम (रिस्क) लेती है और जहाँ उनके सामने आजकल की नई-नई बीमारियो के भयंकर चित्र अंकित किये अथवा भूचालो और रेल-दुर्घटनाओ की करुण-कथा सुनाई वहाँ उनके हृदय में बीमा कम्पनी के लिए कुछ स्थान हो गया। और जब उनको बतलाया गया कि वैसे तो आप कुछ नहीं बचा पाते किन्तु इसके कारण आप अनिवार्य रूप से मितव्ययता (Compulsory economy) कर सकेंगे, वही उन पर जादू का पूरा असर कर जाता है। किन्तु वे लोग समयाभाव के कारण सहज मे हाथ नही आते। उनके पीछे जब कोई हाथ धोकर सत्तू बाँध कर पड़ जाय तब कहीं उनसे साक्षात्कार हो पाता है। और यदि वे फैशन-भक्त हुए तो उनके ऊपर अनिवार्य मितव्ययता का ऐसा ही असर नहीं होता जैसा कि सती के हृदय पर कामी पुरुषो के वचनो का।

बेकार लोगों में दो श्रेणियाँ हैं—प्रथम श्रेणी में तो वे शुद्ध निर्लेप बेकार हैं जिनको न काम से काम है और न दाम का नाम ही सुनाई पड़ता है। दूसरी मे वे लोग हैं जिनके पास कुछ काम तो नही है किन्तु जीवन के पहले भाग में किये हुए सत्कर्मों के फलस्वरूप मास-प्रति-मास कुछ कलदार आ जाते है। ये लोग वेकारो के पवित्र नाम को बदनाम करते है। पहले प्रकार के लोगो के पास जाने का तो बीमा कम्पनी वालो को साहस कहाँ? क्योकि उनमे से प्रत्येक बीमा कम्पनी के एजंट बनने की प्रबल सम्भावना रखता है। एक पेशे के लोग कभी प्रेम से नही रह सकते 'याचको याचकं दृष्ट्वा श्वानवत गुरगुरायते'। दूसरे प्रकार के लोगो के पास जाने का वे थोड़ा-बहुत साहस करते है। किन्तु उनकी पचपन साला आयु देख उनसे इतने ही शङ्कित हो जाते है जितना कि काले कपड़े से एक ग्रामीण बैल। किसी न किसी क्षेत्र में

श्वेत केश वालो को केशव की भाँति पछतावा ही करना पड़ता है। वे लोग तो शायद अपनी जान का सौदा करने को सहज मे तैयार हो जायँ किन्तु एजेंट लोग उस सौदे को सहज मे नहीं स्वीकार करते। बीमा कम्पनियो के सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश मै एक ऐसा जन्तु था जो पेंशनयाफ्ता होता हुआ भी ५० साल से कम आयु का था।

जहाँ अड़ोस-पड़ोस के लोगो को मेरी परिस्थिति मालूम हुई वहाँ एजेन्टो ने मेरा पीछा करना शुरू किया। मेरे पास कोई ऐसा दुर्ग न था कि जहाँ जाकर छिप जाता। बीमे के प्रस्ताव होने लगे, सोते-जागते, उठते-बैठते, टहलते दिन-रात बीमा की चर्चा होने लगी। दो एक एजेन्ट तो आपस मे वाक्‌युद्ध भी करने लग जाते थे। बीमे के प्रस्तावो के कारण मेरी नीद हराम हो गई। जान का बीमा क्या था जी का जंजाल हो गया। औरो से तो जैसे-तैसे पीछा छुड़ा पाया किन्तु एक महाशयजी मेरे पड़ोस मे रहते थे, उनसे पीछा न छुड़ा सका। इत्तफाक से वे ब्राह्मण भी थे। फिर क्या था? मै गिरधरजी के शासन मे आ गया—विप्र और पड़ोसी को तरह देना ही पड़ती है।

मैने उनसे पूछा—"आप काहे का बीमा करना चाहते है?" उत्तर मिला 'जान का'। मैने कहा कि भाई मै अपनी जान कहीं पारसल करके नहीं भेजना चाहता जो बीमा कराऊँ। मुझसे कहा गया कि बीमा करा कर आप भविष्य के लिए निश्चित हो जायँगे। मै भली प्रकार जानता था कि चिता और चिन्ता मे एक बिन्दी का ही अन्तर है और चिता मे जलने के लिए कुछ अभ्यास भी चाहिए था। इसलिए चिन्ता को जो मेरे जीवन की चिर-सङ्गिनी थी सहज मे परित्याग नहीं करना चाहता था, लेकिन 'अर्थी दोषं न पश्यति'। एजेन्ट महोदयो पर मेरी युक्ति का इतना भी असर नहीं हुआ जितना कि तवे पर बूंद का।

बाबा तुलसीदासजी के शब्दो को लौट-फेर सकूँ तो कहदूँ बुन्द अघात सहे गिरि जैसे। उन्होने मेरी सम्मति—ठीक तो यो है कि मौन रूपी अर्ध सम्मति प्राप्त करली। मेरे सामने फार्म रख दिया गया और मैने ५०००) के लिए आँख बन्द करके दस्तखत कर दिए। ५०००) से कम का बीमा कराना मे अपनी शान के खिलाफ समझता था क्योकि अगर कभी इज्जत-हतक का मामला चलाना हुआ तो ५०००) से अधिक का दावा कर सकूंगा। इज्जत-जान से ज्यादह मूल्य रखती है। दस्तखत तो सहज में हो गए किन्तु जिस प्रकार विवाह कर लेना आपत्तियो का आरम्भ है, उसी प्रकार दस्तखत कर देना भी आपत्तियो को मोल लेना था। दस्तखत के पश्चात ही मुझसे पूछा गया कि आपकी जन्मपत्री कहाँ है। मैने कहा—क्या आप पाराशरी अथवा वृहज्जातक के अनुकूल मेरी आयु का निर्णय कराना चाहते है? उन्हो कहा—भविष्य की नही वरन् वर्तमान की। मै तो यह समझता था कि जिस प्रकार उस बीमा के व्यवसाय ने एजेन्टो, डाक्टरो और अखबारो को रोजगार दिया है उसी प्रकार शायद बीमा कम्पनियां ज्योतिषियो को भी आजीविका देंगी। आज कल इङ्गरेजी पढ़ जाने के कारण लोग ज्योतिषियो से कम काम लेते है। जब सनातन धर्मी लोग इस ओर ध्यान देगे और शुद्ध सनातन धर्मियो की बीमा कम्पनी बनेगी तब डाक्टरो की अपेक्षा ज्योतिषियो की परीक्षा को अधिक महत्व दिया जायगा किन्तु अभी तो डाक्टरो की ही चलती है।

यदि बीमा कम्पनियो को ज्योतिप मे विश्वास होता तो मै डाक्टरी परीक्षा से बच जाता। किन्तु वृथा प्रलाप से क्या लाभ? मेरी नाप-तोल की गई, मानो मै कोई क्रय-विक्रय की वस्तु था। मुझे तक पर बैठाया गया। यदि तुला कराई गई होती तो बेचारे ब्राह्मणो का भला होता। मालूम नही तुला पर बैठ कर मुझे

तुलादान का फल मिलेगा या नही ? मेरी छाती कमर पैर सबका नाप हुआ। जब दर्जी नापता है तब तो यह सन्तोष रहता है कि नया सूट पहिनने को मिलेगा, किन्तु यहाँ क्या रक्खा था ? बीमार की भाँति पलंग पर लेटना पड़ा। वैसे तो मेरा शरीर रोगो का अड्डा बना हुआ था क्योकि आज कल 'भोगेनान्तेतनुः-त्यजाम्' के स्थान मे 'रोगेनान्तेतनुःत्याजम्' का पाठ हो गया है। किन्तु मै बहुत से रोगो के बारे मे डॉक्टर की आँख मे धूल झोकने मे सफल हुआ। एक लम्बी-चौड़ी प्रश्नावली का उत्तर देना पड़ा। यदि सब बातो का बिलकुल सच्चा-सच्चा उत्तर दिया जाय तो स्वयं भगवान धन्वन्तरि भी डाक्टरी की परीक्षा मे फेल हो जायँ। मैने अदालत के सत्य मूर्ति गवाह की भांति सच और विलकुल सच के सिवाय और सब कुछ कहा। लेकिन बकरे की मां कब तक खैर मना सकती है, मेरे शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग ने मेरे विपरीत गवाही दी।

जब मकनपुर या बटेश्वर की हाट मे खरीदे जाने वाले बैल या बछड़े की भाँति मेरे दाँत देखे गये तो टूटे हुए दाँत को न छिपा सका। मै तो इस बात मे महात्मा गांधी से समानता कर के मन खुश कर लेता था। शुष्क हृदय डाक्टर लोग इसे वार्द्धक्य का चिन्ह समझते है। और स्थान मे वृद्ध लोगो का आदर होता है, किन्तु कलियुगी बीमा कम्पनी वाले वयोवृद्ध लोगो का आदर नही करते। डाक्टर विचारे को भी मेरा केस पहला ही मिला था। वे सत्य वक्ता होने की धाक जमाना चाहते थे।

मैने दाँत के सम्बन्ध मे युधिष्ठिरी सत्य भी बोला लेकिन उन्हो ने एक न मानी। उन्हे क्या था उन्हें तो फीस से काम, 'मुर्दा चाहे इस घाट जाय चाहे उस घाट जाय बन्दे को कफन से काम।' हाँ विचारे एजेन्ट महोदय मेरी परीक्षा की सफलता के लिए उतने ही उत्सुक थे जितना कि मैट्रिक का परीक्षार्थी अप

शुभ फल के लिए। यदि मेरा बीमा हो जाता तो शायद मेरे बच्चों को तो मरने के पश्चात ही धन प्राप्त होता किन्तु एजेन्ट महोदय का कमीशन पक्का था। ५०००) का बीमा हो जाने से उनकी कम्पनी मे उनका कुछ आदर भी होने लगता। डाक्टर ने मेरे सामने बहुत चिकनी-चुपड़ी बाते कही और मुझे विश्वास हो गया कि शायद मेरा प्रस्ताव स्वीकृत हो जायगा। मै निर्भय जीवन व्यतीत करने का स्वप्न देखने लगा एवेरस्ट की चोटी पर जाने तक के मन्सूबे बांधने लगा। हिन्दू मुसलिम दंगों में शामिल होकर नेता बनने की भी आशा करने लगा। किन्तु, मन चीते क्या होता है प्रभु का चीता होता है। थोड़े ही दिन पश्चात् बड़ा शिष्टाचार पूर्ण पत्र मिला कि यद्यपि हम इस बात के आपके आभारी है कि आपने हमारे यहाँ बीमा कराने का निश्चय किया था तथापि हमे खेद है कि आपका प्रस्ताव स्वीकार नही कर सकते। पहले तो कुछ आघात-सा लगा लेकिन फिर मन समझा लिया कि आँख फूटी पीर गई। बार-बार त्रैमासिक रुपया भेजने के भार से बचा, बच्चो के लिए तो निश्चित हो जाता किन्तु प्रीमियम भेजने की चिन्ता तो मुझे शीघ्र ही मृत्यु के निकट पहुँचा देती।

फिर मैने अपना निश्चय बदल दिया कि न मै अब विज्ञान के लिए अपना बलिदान करूँगा, न धर्म के लिए और न देश और जाति के लिए। सुख की नीद सोकर अपना जीवन व्यतीत करूँगा। बस मैने सोच लिया कि नाखून और सर के बाल कटा कर आत्म-बलिदान का आत्म-तोष प्राप्त कर लिया करूँगा। सर न सही तो सर के बाल ही सही। बीमा कम्पनी वाले शायद इस सिद्धान्त को नही जानते कि रोगी लोग ही चिरजीवी होते है क्योकि उनको रोग के कारण अपना जीवन नियमित रखना पड़ता है। मुझे आशा है कि भले स्कूल के लड़के की भाँति अपना जीवन नियमित रख कर जान-बूझ कर आग मे न कूदूंगा और

हनूमान बाबा, अश्वत्थामा, लोमश ऋषि, भगवान भुवन भास्कर सूर्य देव और भूत भावन मृत्युञ्जय महादेव कृपा करके मुझे दीर्घ जीवी बना देंगे। रहा बाल-बच्चों का प्रश्न उसके लिए मैंने सन्तोष कर लिया है कि 'पूत सपूत तो क्यों धन सञ्चय, पूत कपूत तो क्यों धन सञ्चय'। जीवन-बीमा के अगूर मुझे अब खट्टे प्रतीत होते हैं।*

———

* एक बार फिर बीमा वालों की बातों की फेर में पड़ कर जान का बीमा करा बैठा। एजेन्ट साहब एक रोज मुझे अपनी मोटर में हवा खाने लिवा गये। हवा में मेरा बीमा न कराने का संकल्प हवा हो गया। डाक्टर ने भी सरसरी जाँच की, क्योंकि वे काम में अधिक व्यस्त रहते थे। मैं जाँच में पास हो गया, बड़ी प्रसन्नता हुई। किन्तु दुर्भाग्य से वह कम्पनी Liquidation में आगई। प्रीमियम देने से छुट्टी मिली। अब मैं निश्चिन्त हूं।

श्रीरामजी-प्रीत्यर्थ

(मेरे जीवन की अव्यवस्था)

विश्व-व्यापकता का यदि कुछ महत्व है, तो मूर्ख-सम्प्रदाय के आगे दुनिया मे कोई सम्प्रदाय नही ठहर सकता। संसार मे कोई ऐसा व्यक्ति, दल या समुदाय नहीं, जो किसी-न-किसी द्वारा मूर्ख न समझा गया हो। इस पद के लिए न किसी को सलाम झुकाने की आवश्यकता है, और न अखबारों में अपने कारनामो का ढिंढोरा पीटा जाता। इसके लिए चातक-दृष्टि लगा कर ऑनर्स-लिस्ट की भी बाट नही जोहना पड़ती। इसके लिए यह कहने की भी आवश्यकता नहीं कि "गुन ना हिरानो, गुन गाहक हिरानो है।'

इस परम पुनीत, आदितम संप्रदाय के काशी और प्रयाग की भाँति शिकारपुर और भौगाँव दो तीर्थ-स्थान हैं। इनमे प्रधानता किसकी है ?—इस महत्व-पूर्ण प्रश्न का निर्णय करने में "कवयोऽप्यत्र मोहिताः" फिर 'अस्मदादिकानां का वार्ता ?'

यद्यपि भौगाँव से मेरा सर-सरसिज, राका-शशि या वलय और मणि का-सा कोई सहज सम्बन्ध नहीं, तथापि मेरे ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर-स्वरूप परम दैववत् गुरुदेव (पण्डित

गिरिजाशंकर मिश्र), जिनके चरणाँबुजो का चंचरीक बन कर मैंने विद्याओ की विद्या देववाणी (संस्कृत) का अध्ययन किया था, ।इसी पुण्य क्षेत्र के निवासी थे। उन्ही की कृपा का बल प्राप्त कर मैने फारसी छोड़ कर नाइन्थ क्लास मे संस्कृत ली थी, और जिस प्रकार नया मुसलमान अल्ला-ही-अल्ला पुकारता है, मै भी बात-बात मे संस्कृत बघारने लग जाता था। यद्यपि मिथ्या पांडित्य-प्रदर्शन की यह आदत अच्छी नही, तथापि नीलकण्ठ भगवान् शङ्कर के कण्ठस्थ विप की भॉति मैने इसे छोड़ा नही। "अङ्गीकृत सुकृतिनः परिपालयन्ति।" खद्दर पर सिलमे-सितारे के काम की भॉति समय-कुसमय मे अपने लेखो मे संस्कृत के अवतरणो का पुट देकर एक साथ अपनी विद्या और अविद्या का परिचय देता हूँ, क्योकि उनमे प्रायः गलतियॉ रह जाती है, और इस प्रकार तम और प्रकाश का संबंध, जिसे वेदान्तांबुज-सूर्य श्री शंकराचार्य ने असम्भव माना है*, संभव हो जाता है।

यह कुछ विषयान्तर-सा हो गया, किंतु इस मूर्खता के लेखमे संगति की खोज करना असंगति है और युक्तिमत्ता की आशा करना मूर्खता ("गरल सराहिय मीचु")। अस्तु। महर्षि देवेन्द्रनाथ की जीवनी मे मैने पढ़ा था कि उनकी तारीफ मे इससे अधिक अच्छी बात क्या हो सकती है कि वे विश्वकवि रवि बाबू के पूज्य पितृ-देव है। कुछ-कुछ ऐसा ही सबंधं भौगॉव का मैनपुरी से है, जहॉ मैने अपने जीवन की अरुणोदय-सी स्वर्णिम बाल्य-वेला बिताई थी। भौगॉव मैनपुरो के ही जिले मे है।

*युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणोस्तम प्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयो-रितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धाया तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिः।

(शा० भा० भूमिका)

'सियाराममय सब जग जानी' वाले विश्व-मैत्री के नाते से कुछ अधिक घनिष्टतर और राज्य की नौकरी से च्युत होने के कारण मेरे समान धर्मी मित्र, जो एक बड़े मासिक पत्र के संपादक है, मुझ से प्रायः यह पूछकर कि मै मैनपुरी मे कितने दिन रहा, बड़े गर्व और आत्म-सन्तोप के साथ अपने हास्य-विनोद-प्रेस का परिचय दे देते है। उनका घर भी मैनपुरी-जिले मे है और शायद सुसराल भी। उन्ही के प्रीत्यर्थ मै यह लेख लिख रहा हूँ।

यद्यपि मैं अपने शिकारपुरी मित्र की, जिनका मैं विशेष परिचय दूँगा, प्रतिस्पर्धा नही कर सकता, कहाँ राजा भोज और गङ्गा तेली ? तथापि मेरे जीवन मे अव्यवस्था, अव्यवहारिकता, अदूरदर्शिता, अज्ञान और भुलक्कड़पन की मात्रा पर्याप्त रही है।

अव्यस्था ही मेरे जीवन को व्यवस्था है। आदर्शवाद से मैं कोसो दूर रहा हूँ; और मै समझता हूँ, जीवन मे जो कुछ कर सका हूँ, इसी कारण कर सका हूँ। 'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः' मेरे जीवन का मूल मन्त्र रहा है। एक आदर्शवादी राज्य मे मैने कुछ दिन काम किया था मेरे चार्ज में एक स्कूल भी था। उसके छात्रावास के लड़कों के पलङ्गों की चादरो के सम्बन्ध मे मैने रिपोर्ट की। उसी के साथ मेरे आक़ाए-नियामत ने उनकी सारी पोशाक का प्रश्न उठाया। वे स्वदेश-भक्त थे, फिर भी रेकिन और एस्किथ एन्ड लॉर्ड तक के यहाँ से कोटेशन मँगवाये गये। लाल इमली, धारीवाल और बॉबे बुलेन मिल्स और न-जाने कहाँ-कहाँ से नमूनो और टेंडरों का आवाहन हुआ। जूतो की कीमत जानने के लिए आगरे और कानपुर को कागज के घोड़े नहीं, बिजली तक के घोड़े दौड़ाये गये। लड़के भी यह स्वप्न देखने लगे कि हम राजा साहब की सारूप्यता प्राप्त कर लेंगे; सालोक्यता और सामीप्यता तो उन्हे प्राप्त थी ही। लेकिन उनका स्वप्न रात्रि के पूर्वार्ध का स्वप्न निकला (ऐसा विश्वास है कि जो स्वप्न रात्रि

के पूर्वार्ध मे देखे जाते हैं, वे चरितार्थ नही होते) मेरी स्थिति के सात मास बीत गये, फिर भी बेचारे विद्यार्थियो के पलंगों की चादरे वैसी ही रहीं। उसके छः महीने बाद भी मुझे स्वयं राजा साहब के एक पत्र से ज्ञात हुआ कि आश्रम के लड़को के पैरो को तब तक जूते भी नही मिले थे। ऐसे आदर्शवाद के मैने सदा हाथ जोड़े है, और उसी के साथ आदर्शवादियो के भी। उस रियासत से मुझे शीघ्र हो पतंग कटानी पड़ी। एक फाइल का स्वयं पता दे देने के कारण मेरा तनज्जुल हुआ, होम करते हाथ जला। मैने त्याग-पत्र दिया, उसकी स्वीकृति स्थगित रही। इतने मे होली का पर्व आया। देव-मन्दिर मे होली धूम-धाम से मनाई गई। रङ्गरेजी और रङ्गरेली (शाब्दिक अर्थ मे) हुई। मन्दिर के भीतर-बाहर रङ्गीन जल का साम्राज्य हो गया। दूसरे रोज भक्त-रूप से राजा साहब को देव दर्शनार्थ पधारना था। मन्दिर का रङ्ग धुलवाने और जल के सोखने का प्रबन्ध मेरे जिम्मे था। वरुणदेव की मेरे ऊपर बड़ी कृपा है। एक साल मेरे मकान पर आक्रमण किया था, उस साल मेरी रोजी पर। मन्दिर के भीतर का जल सूख गया था। बाहर एक जगह से वह नितान्त निःशेप न हो सका। मै अगस्त्य मुनि का अवतार न था। निःशेष न होने का कारण यह था कि वहाँ कोई मोरी न थी। राजा साहब के चरणांबुजो को आर्द्र करने के लिए जल पर्याप्त से कुछ कम था, और काशी-विश्वनाथ के मन्दिर के रौप्य-राशि-जटित धरातलगत जल के सहस्रांश से शायद कुछ अधिक।

राजा साहब की भक्ति-भावना उनकी प्रबन्धप्रियता पर विजय न पा सकी। तुरन्त मेरी और किसी दूसरे कसूर पर फौज के अफसर की मुअत्तली का हुक्म निकल गया। फिर राजा साहब ने बड़ी भक्ति के साथ देव-दर्शन किया। दीनता से दण्डवत् हो गये। दूसरे अफसर साहब ने क्षमा-याचना कर ली।

मैंने राजा साहब को नम्रता-पूर्वक लिख दिया कि मै आपके कष्ट के लिए दुखी हूँ। कसूर की हाथ जोड़कर क्षमा माँगता हूँ, सजा की नहीं। मेरे इस्तीफे की स्वीकृति स्थगित न रखी जाय। तुरन्त चार्ज दे देने की आज्ञा मिल गई। मुझे मालूम हो गया कि नौकरी का स्थायित्व वहाँ नलिनी-दल-गत-जल से भी अतिशय चपल था। मै वहाँ अधिक ठहरा नही, अच्छा ही हुआ। 'बकरे की मा कब तक खैर मनाती!' उन राजा साहब का मैने नमक-पानी खाया है। उनकी बुराई नही करना चाहता। सच्चे खिलाड़ी की भाँति वे मुझे क्षमा करेंगे।

मेरे मित्र मजकूर ने एक बार किसी से कहा था कि बाबूजी ने अपने सब संस्मरण लिखे, उक्त रियासत से निकाले जाने का नहीं लिखा। उनकी प्रसन्नता के लिए अपनी अव्यवहारिकता के प्रमाण-स्वरूप इसे लिख दिया है। मेरे मित्र भी एक या दो रियासतो के निकाले हुए है। इसीलिए मै उनसे मित्र-भाव रखता हूँ। समान शील व्यसनेषु मैत्री।

मै अपना समय दार्शनिक चिन्ता मे तो नही खोता, किन्तु दार्शनिकों की-सी अव्यवस्था मेरे जीवन मे अवश्य है। इसी कारण कभी-कभी दार्शनिक होने का गौरव प्राप्त कर लेता हूँ। यद्यपि मै उन दार्शनिकों में तो नही हूँ, जो अपना ही नाम भूल जाते है, अथवा छड़ी को चारपाई पर सुला कर आप रात भर कोने में खड़े रहते है, किन्तु कमरे की सजावट और वस्तु-विन्यास में कार्लाइल द्वारा वर्णित प्रोफेसर ट्यूफेल्सड्रोक से प्रतिस्पर्धा अवश्य कर सकता हूँ। मेरे मित्र मिश्रबन्धुगण पर यदि निर्णय का भार रक्खा जाय, तो वे मुझे दो या चार नम्बर कम देंगे, और किसी आधुनिक प्रगतिशील आलोचक को यह काम सौंपा जाय, तो वह मुझे कम-से-कम ५० नम्बर अधिक देगा। वह कहेगा, आप इस युग मे रहते है, वह प्रोफेसर दो सौ वर्ष पहले रहता था।

आपकी जॉच वर्तमान माप-दण्ड से होगी, इसलिए वह मुझे अव्यवस्था में १०० के स्थान मे १५० मार्क देने की कृपा करेगा। रहन-सहन की अव्यवस्था मे अगर मैंने किसी से हार मानी है तो श्री 'निराला' जी से। हॉं; कार्लाइल का वर्णन देखिए—

"It was a strange apartment; full of books and tattered papers, and miscellaneous shreds of all conceivable substances united in a common elemenst of dut. Books lay on tables and below tables, here fluttered a sheet of manuscript, there a torn handkerchief, or night cap hastily thrown aside, ink bottle alternated with bread crusts, coffee pots, tobacco boxes, periodical literature, and Blucher-Boots."

इसका अनुवाद मै नही करना चाहता, किन्तु अॅगरेजी न जानने वालो के हितार्थ टूटा-फूटा अनुवाद दे रहा हूॅ—

वह एक अजीब कमरा था। उसमे बिखरी हुई किताबो और फटे कागजों तथा कल्पना मे आसकने वाली प्रायः सभी स्फुट वस्तुओ के टुकड़े धूल के एक ही मूल-तत्त्व से वेष्टित रहते थे। पुस्तके मेजो पर और मेजो के नीचे भी पढ़ी रहती थी। कहीं पुस्तको की फटी हुई पाण्डुलिपियॉं फरफराती थीं, और कहीं फटा हुआ रूमाल और जल्दी से उतारी हुई नाइट कैप पड़ी रहती थी। स्याही की बोतले रोटी के टुकड़े, काफी-पात्र, तंबाकूदान, मासिक पत्र और बूट विकल्प से दर्शक का ध्यान आकर्षित करते थे।"

बाल्यकाल मे तो अव्यवस्था क्षम्य ही नही होती, वरन् कभी-कभी माता-पिता के आमोद का भी कारण बन जाती है, किन्तु कॉलेज-जीवन का विद्यार्थी रहन-सहन के लिए उत्तरदायी समझा जाता है। उस जीवन का भी मै कोई संतोष जनक वर्णन नहीं दे सकता। बाल्य-काल की केवल एक घटना स्मरण है। मैं

अपनी ननसाल, जलाली जिला अलीगढ़, गया हुआ था। मेरी धोती नहीं मिल रही थी। मै मैनपुरी की बोली मे चारों ओर कहता फिरता था—"हमारी धुतिया किएँ गई ?" वहाँ के पश्चिमी लोगो ने मेरी अर्धपूर्वी बोली की बड़ी हँसी उड़ाई। उन लोगो ने मेरा नाम पुरबिया रख लिया था। मेरा पैत्रिक घर जलेसर मे है। (वहाँ के रहने वालो का सर जला नहीं होता) वह भी कुछ-कुछ पश्चिमी भाग मे है। वहाँ के मेरे एक विनोद-प्रिय चचा साहब ने मेरी बोली सुन कर कह ही डाला—"देशी गधा पूर्बी रहँक।" तब से मैंने मातृ-भाषा अर्थात् ब्रजभाषा का, जो मेरी माता बोलती थीं, अभ्यास किया। वह स्कूल मे गँवारू समझी जाती थी। इसलिए खड़ी बोली का अभ्यास किया, जो पैत्रिक बोली थी। भाषा के संबंध मे एक बात और याद है कि मेरे किसी गुरुजन ने मुझे 'हम' कहने पर बहुत डाटा था। उन्होने कहा था, इसमे विनय का अभाव है। वह बात मैंने गाँठ बाँध ली। मैंने तो 'हम' कहना छोड़ दिया है, किन्तु एक महाशय, जिन्हे 'हम' के प्रयोग पर मैंने कई बार टोका है, अभी तक उसका मोह नहीं छोड़ सके। शायद वे 'हम'-शब्द मे हिन्दू और मुसलिम एकता का प्रतीक देखते हैं ('ह' से हिन्दू 'म' से मुसलमान)। ईश्वर उन्हे सद्बुद्धि दे। विषयांतर के लिए पुनः क्षमा-याचना !

वैश्य-बोर्डिङ्ग-हाउस मे जब मै पढ़ता था, तव भी मेरी अव्यवस्था कुछ-कुछ प्रोफेसर ट्यूफेल्सड्रोक के आदर्शों से मिलती थी। मुझे एक छोटी-सी कोठरी मिली थी। उसके लिए भी बड़ी सिफारिश की जरूरत पड़ी थी। मेरे पास ट्रंक के स्थान मे एक चीड़ का बक्स था। जिस प्रकार बिना मरे स्वर्ग नहीं दिखाई पड़ता, उसी प्रकार उन दिनो बिना प्रयाग गये अच्छा ट्रंक नहीं मिलता था। लोग ज्यादातर अंडाकार टीन के डब्बों से काम चलाते थे (यह है सन् १९०६ की बात, जब मै एफ़०ए० के सेकिंड ईयर मे पढ़ता

था)। उन दिनो मुझे विज्ञान से कुछ शौक हो गया था मेरी धारणा थी कि पानी के नलो की ऐसी व्यवस्था की जा सकती है कि पानी ऊपर से गिरे और फिर अपने आप ऊपर उठ जाय। इस प्रकार सतत गति (Perpetual Motion), जिसे विज्ञान असंभव मानता है. सम्भव हो सकती है। यह मेरी मूर्खता ही थी। मै कॉच की नलिकाओं से, जिन्हे मै अपने वैज्ञानिक सहपाठियो से मॉग लेता था, और जिन्हे मै दीप शिखा पर (उस समय कडुवे तेल के चिराग चलन से बाहर नही हुए थे। जैसे किसी विरले को भगवद्भक्ति प्राप्त होती है, वैसे किसी भाग्यवान् के पास टेबिल लैप रहते थे) टेढ़ा कर मन-चाहा आकार दे देता था, और उनके द्वारा अपने उल्टे-सीधे प्रयोग करता था। मेरे चोड़ के बक्स के एक कक्ष मे ऐसी ही धूम्र-कलुषित नलिकाओ की भीड-सी लगी रहती थी। उसके साथ कुछ गन्धक, फिटकिरी आदि द्रव्य भी पड़े रहते थे, जिनके आधार पर मै आविष्कारक बनने का दुःस्वप्न देखा करता था। पीछे से उस बक्स का ढक्कन उससे असहयोग करने लगा था। उस बक्स के अतिरिक्त एक चारपाई थी, जो अदवाइन ढीली रहने के कारण (मै नौकरों से किसी बात को डाटकर कहना नही जानता था) नतोदर (convex) बनी रहती थी, और मै यह संतोष कर लेता था कि अगर सोते मे मेरे ऊपर कोई लाठी चलाएगा, तो मेरे न लगकर पाटियो पर रुक जायगी। कमरे मे दरी के फर्श के स्थान मे खजूर की चटाई थी। उसकी पट्टियाँ जीर्ण होकर कमरे के भिन्न-भिन्न भागो पर, विभाजित कुटुम्ब के सदस्यो की भॉति, अपना-अपना स्वतन्त्र अधिकार स्थापित करना चाहती थी। मेज पर तैलाभिषिक्त ईंट रहती थी, उस पर स्नेहाल्पावित ज्ञान का दीप जलता था। कोर्स की पुस्तके अलमारी से और बिना कोर्स की मेज पर से मेरा ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रतिस्पर्धा करती

रहती थीं। बुकसैन नाम के कबाड़िए से खरीदी हुई जीर्ण-शीर्ण, परन्तु महत्त्व-पूर्ण कुछ पुस्तके अलमारी में इस आशा से डटी रहती थीं कि 'कबहुं तो दीनदयाल के भनक पड़ेगी कान।' यद्यपि मैं ब्रह्मचारियो की-सी, फूस के झाड़-जैसी, घनी चोटी रखनेवाले सिद्धांती महाशय-टाइप के विद्यार्थियों मे से न था, जो देश छोड़ कर सात समंदर-पार वलायत में वेदो का डंका बजाकर ही दम लेना चाहते थे, तथापि मुझ पर स्वदेशी का काफी प्रभाव था। खुदरंग पट्टू की अचकन पहनता था। उसके तंतुओं के व्यक्त हो जाने को मैं भारत की ग़रीबी का प्रतीक समझता था। यही मेरी हालत थी, पीछे से कुछ सुधार हुआ। चीड़ के बक्स का उत्तराधिकार ट्रंक को मिला। पट्टू के स्थान मे मिल का कपड़ा आया, लेकिन फिर भी वही बेढंगी रफ्तार रही।

मेरे कुछ मित्र, जो, मुझ पर स्नेह का अधिकार रखते थे, मेरी इस अव्यवस्था से नाराज़ रहते। बाबू जानकीप्रसाद सिहल तो मुझे हाबूड़ा कहकर ही संतोष कर लेते थे, किन्तु बाबू जमुनाप्रसादजी ने, जो आजकल मथुरा म्युनिसिपल बोर्ड के चेयरमैन हैं, मेरे सुधार का बीड़ा उठाया था। इस संबंध में एक मनोरञ्जक घटना मुझे स्मरण है। उस समय मैं एम्० ए० में पढ़ता था। प्रोफेसर भी हो गया था। मेरे एक मदरासी दार्शनिक गुरु भाई का (मेरे गुरुदेव प्रोफेसर इरिकडू मदरास से ही आये थे), जो एम्० ए० में फर्स्ट क्लास फर्स्ट थे, शायद मद्रास यूनीवर्सिटी का रेकॉर्ड भी बीट किया था और आई० सी० एस० के लिए विलायत जाना चाहते थे, पत्र आया कि वे उत्तर-भारत देखना चाहते है। मैं दिल्ली आकर उनसे मिलूँ। जमुनाप्रसादजी, कमलाप्रसादजी, किशनलालजी आदि मेरे कई मित्र मेरे साथ गये। जमुनाप्रसादजी बड़े दुःखित थे कि मैं एक ऐसे महान् व्यक्ति मे मिलने जा रहा हूँ, जो आई० सी० एस० के लिए विलायत

जाने वाला है, और जो सूट-बूट से अप-टु-डेट सेकिंड क्लास में में आता होगा, और मेरे पास लट्ठे का पाजामा, पुराने कोट और बेढङ्गी टोपी के सिवा और कुछ नहीं। दिल्ली पहुँच कर उन्होंने यथाशक्ति मेरी टीम-टाम की। आग्रह कर नई टोपी खरिदवाई, कोट के नीचे एक कालर भी लगाया और पूरी पार्टी के साथ मदरासी मित्र के स्वागत के लिए स्टेशन पहुँचे। उनकी ट्रेन लेट थी, प्रायः एक बजे तक रात प्लेटफार्म की बेंचो और वेटिंग रूम की कोचों पर बिताई। ट्रेन की घण्टी होने पर एक बार फिर लोगों ने अपने और मेरे कपड़ो की झाड-पोंछ की। कुली से पूछा, सेकिंड क्लास कहाँ खड़ा होता है? 'भ्रू परि पानि' हो शबरी की भाँति उसकी प्रतीक्षा की। ट्रेन आई, सेकिंड क्लास वहीं खड़ा हुआ, जहाँ हम खड़े थे। मेरे मित्र डब्बे के द्वार पर ही खड़े थे। उनका मुख और उनके केश कालिमा मे कंपिटीशन कर रहे थे। बढ़े हुए बाल ऊपर को ऐसे खड़े थे, मानो उनमें विद्युच्छक्ति का संचार हो गया हो। उनके बाल भालू के-से रुक्ष, स्नेह-शून्य और कंघे से अपरिचित थे। बदन पर एक मैली क़मीज़ थी, जिस पर रेल के कोयले के कणो का गहरा स्तर उनके चेहरे की परछाई-सा मालूम होता था। उसके ऊपर तह किया हुआ उत्तरीय था। उनके चरण-सरोज उपाहन की 'सामा' विहीन थे, और कुछ-कुछ मलिनता के कारण दीन-से प्रतीत हो रहे थे। उन्हें देख कर जमुनाप्रसादजी की आँते-पीते जल गईं। मेरे मुँह पर प्रसन्नता की रेखा स्पष्ट हो गई। विजय-गर्व से मैं जमुनाप्रसादजी की ओर देखने लगा।

छतरपुर मे पद के कारण कुछ व्यवस्था सुधरी थी, लेकिन बाहर के कमरे तक ही, पोशाक मे अधिक परिवर्तन नहीं हुआ था। भाग्य से मेरे महाराजा पोशाक की ज्यादा परवा नहीं करते थे, किन्तु वे भी कभी-कभी मेरे शिकन पड़े हुए पाजामा का

स्केच स्लेट पर बना कर मेरा मज़ाक़ उड़ा लेते थे। अब अपना घर बन जाने के कारण कुछ व्यवस्था सुधरी है, उसका श्रेय मेरी देवीजी तथा मेरे सुपुत्रों को है। उनकी व्यवस्था मे अव्यवस्था उत्पन्न करना मेरा प्रिय व्यसन है। यहाँ भी दो-एक महाशयो ने मेरे सुधार का बीड़ा उठाया है। एक अधिक नफासतपसन्द महोदय मेरी कुरसियो की गद्दियों के सुधार के लिए सत्याग्रह करने लगे। वे गद्दी उठा कर दूसरी गद्दी पर रख देते थे। मैने एक बार साबुन और तौलिया मँगा कर उनसे हस्तप्रक्षालन का प्रस्ताव किया। वे समझे, मै उनके लिए कुछ भोजन मँगा रहा हूँ। मैने कहा, शायद आपके हाथ गद्दी उठाने से ख़राब हो गये होगे। वे समझ गये। इतने अकलमन्द थे जिनको इशारा काफी होता है। तब से उन्होंने सत्याग्रह करना छोड़ दिया, और गद्दियो के आवरण भी मैंने बदल दिये। एक दूसरे महाशय कहते है, कमरे मे इतनी तसवीरें क्यो लगा रक्खी है। मै कहता हूँ, उनका करूँ क्या? बात तो उनकी ठीक है, लेकिन उसे कार्य-रूप में परिणत नहीं कर सका।

मुझे फूलो, बग़ीचो और दूध देने वाले जानवरो का शौक़ है, किन्तु वे भी मेरे घर की अव्यवस्था ही बढ़ाते हैं। जब मेरी भैंस बगीचे मे छूट कर गोभी के पेड़ो पर आक्रमण करने लगती है तब शिवजी के तबेले की सी रार मेरे यहाँ भी मच जाती है। इधर अकल के साथ तुला मे रक्खी जाने वाली दूध-घी देने वाली भैस, उधर शोभा और उपयोगिता से समन्वयकारी गोभी और टमाटर के पौदे। किसको मुख्यता दी जाय? इधर दुग्ध-प्रेम उधर शाक-प्रेम! श्रीजयशङ्करप्रसादजी के नाटको मे भी ऐसा अन्तर्द्वन्द्व न उपस्थित हुआ होगा। इस वर्णन से बहुत अत्युक्ति तो नहीं, लेकिन किसी मेहमान को मेरे यहाँ ठहरने में कष्ट न होगा, यद्यपि मै चाहता यही हूँ कि मेरे मेहमान चिमगादड़

के मेहमान बने रह कर मेरी ही तरह उलटे लटके रहे।

भुलक्कड़ भी मैं अव्वल दर्जे का हूँ, यद्यपि इतना नहीं कि चश्मा लगा कर चश्मे को ढूँढ़ता फिरूँ, अथवा स्टेशन जाते हुए ऐसा भान होने पर कि घडी घर भूल आया हूँ, जेब से घड़ी निकाल कर देखूँ कि घर से घड़ी लाने का समय है या नही। एक-दो मर्तबा रिर्टन टिकट पूरा-का-पूरा टिकट-कलक्टर को दे बैठा हूँ। एक बार अपनी देवीजी के साथ अलीगढ़ गया। दो टिकट ख़रीदे थे, एक टिकट कही गुम हो गया। बड़ी मुश्किल दरपेश हुई। टिकट देवीजी को दे दिया, और असबाब कुली को। गेट पर बड़े अदब के साथ देवीजी से कहा—"टिकट दे दीजिए।" टिकट-कलक्टर महोदय पर यही प्रभाव पड़ा कि मैं उन्हे रिसीव करने आया हूँ। बेचारा कुछ न बोला। उस समय प्रत्युत्पन्न मति से काम चल गया।

रोज प्रातः काल मुझे प्रायः आध घण्टा पाठ्य तथा लेखन-सामग्री जुटाने मे लग जाता है। दवात-क़लम या कागज न होने के कारण बहुत-से ब्राह्म मुहूर्त अनुत्पादक रह जाते है। मैं उन डॉक्टर महोदय से कुछ अच्छा हूँ, जो घर पर लेखन-सामग्री न होने के कारण एक चैक न भुना सके। फाउण्टेन पैन, छड़ी, छाता और टोपी खो जाना तो साधारण बात है, मै ओवर कोट खो चुका हूँ। यदि नही भूला हूँ, तो दो चीजे—एक़ अपने को और दूसरा अपना चश्मा।

एक बार सोते से उठने पर एक साथ यह निर्णय नहीं कर सका था कि मैं राजा की मंडी के स्टेशन पर सोया था या वैश्य-बोर्डिङ्ग मे। सडक पर खडे हुए सडक के एञ्जिन मे लगी हुई लाल रोशनी ने यह भ्रम उत्पन्न कर दिया था। सुबह अपने भ्रम को मैंने अपने एक मित्र से कह दिया। उन्होने न जाने क्या-क्या गढ़ डाला।

मैं स्वयं बेवकूफ बना हूँ बनाया बहुत कम गया, क्योंकि मुझमे अधिक महत्त्वाकांक्षा नही। वे लोग अधिक बेवकूफ बनते हैं, जिनमे महत्त्वाकांक्षा की मात्रा कुछ अधिक होती है। मुझे बेवकूफ होने का गर्व तो नही है, किन्तु उसकी लज्जा भी नहीं है, क्योकि मैं धूर्त नहीं हूँ। नेव (Knave) की अपेक्षा फूल (Fool) होना श्रेयस्कर है।

मैं अर्थ-लाभ के लिए दूसरे को बेवकूफ बनाना पाप समझता हूँ, हाँ, शुद्ध विनोद के लिए किसी को मूर्ख बनाना बुरा नही। मेरे एक मित्र डाक के बहुत शौक़ीन थे, किन्तु डाक उनकी आती बहुत कम थी। डाकिए के दर्शन के लिए वे उत्कंठित रहते थे। एक रोज़ मैंने उनके डेस्क से उनकी सब संग्रहीत चिट्ठियाँ निकाल ली, और उनके विना जाने लेटर-बॉक्स मे डाल दी। डाकिया उन चिट्ठियो का पुलंदा लेकर उनके पास आया। वे उसे देख कर बड़े प्रसन्न हुए, किन्तु जब उन्होने देखा कि वे बासी चिट्ठियाँ है, तो बड़े खिन्न और लज्जित हुए।

एक बार फर्स्ट एप्रिल को यह खबर उड़ा कर कि मैनपुरी के स्टेशन से डॉक्टर तृषार्तनाथसिंह, जो बड़े लोकप्रिय रह चुके थे, पास हो रहे हैं, लोगों की भीड़ स्टेशन पर इकट्ठी कर दी। कोई गाडी लेकर पहुँचे और कोई ताँगा। दो-एक महाशय तो डॉक्टर साहब के प्रिय भोज्य पदार्थ भी लेकर पहुँचे। मुझे उन पर बड़ी दया आई। फिर मै अपनी करतूत पर स्वयं ही लज्जित हुआ। एक बार एक घड़ी की दूकान से यह नोटिस निकाल दिया कि पॉच तारीख़ तक घड़ियाँ मुफ्त मिलेगी। शर्त जानने के लिए उक्त कम्पनी के दफ्तर ने सबको एक-एक लिफाफे में छपा हुआ 'फूल' दे दिया। इस प्रकार मैंने इस विश्वव्यापी संप्रदाय की सदस्यता निभाई।

एक स्केच

(मेरे एक शिकारपुरी मित्र)

अँगरेजी मे एक कहावत है कि मनुष्य अपने मित्रो से जाना जाता है। इसके अनुसार पाठकगण चाहे, तो मुझे भी अपने मित्र के समकक्ष रख ले, किन्तु मै उनकी मित्रता स्वीकार करने मे लज्जित नही हूँगा।

नवागन्तुको की साधारणतया चर्चा हुआ ही करती है, किन्तु जब मेरे शिकारपुरी मित्र ने वैश्य-बोर्डिङ्ग-हाउस मे पदार्पण किया, तब सुपरिटेडेट (तब तक 'वार्डन' शब्द जेल वालो से चुराया नही गया था) से लेकर मेहतर तक उनकी चर्चा करता। अपने प्रिय मित्र का नाम नही बतलाऊँगा। इसलिए नही कि बदनाम होगे, वरन् इसलिए कि वे इतने सज्जन, सुशील और सुयोग्य है कि बाइबिल के शब्दो मे मै उनके जूते के तस्मे भी खोलने योग्य नही, और उनका पवित्र नाम एक लक्ष गायत्री-मन्त्र के जप द्वारा जिह्वा को पवित्र किये बिना नही लिया जा सकता।

'गुरबा कुश्तन रोजे अव्वल' (बिल्ली को पहले दिन ही मार देना चाहिए, जिससे वह पीछे से उपद्रव न कर सके)। उन्होने पहले ही दिन सुपरिन्टेण्टेण्ट पर रौब गाँठ दिया। सुपरिन्टेण्डेण्ट

महोदय ने उनका निवास-स्थान पूछा। "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाले सिद्धान्त के उपासक "देश-कालानवच्छिन्न" आत्मा वाले मेरे मित्र को यह बात ऐसी अरुचिकर प्रतीत हुई, जैसे महात्मा सूरदास को हरि-विमुख लोगो का संग। वे फौरन कह उठे—"नाम लिख लिया, काफी है। शहर से क्या मतलब? लिआकत देखिए साहब! आपको आम खाने से काम या पेड़ गिनने से? आप पढ़े-लिखे आदमी है, व्यर्थ की सुनी-सुनाई बातों के चक्कर में न पड़िए।"

जर्जर ऋषियों के-से उनके दुबले-पतले शरीर मे चेहरे का प्रत्येक अवयव अपने शुभ अस्तित्व की घोषणा-सा करता प्रतीत होता था। उनकी रजत-मेखला-विभूषित कटि सिहनी और भिड़ (बर्र) की कटि को लज्जित करती थी। उसी खिसियानेपन के कारण सिहनी मनुष्य-मात्र से वैर करने लग गई थी, और भिड़ जहाँ-तहाँ लोगो को काटती फिरती है। उनके परस्पर स्पर्धाशील नेत्र-युग्मो की कज्जल-कला छिपाये नही छिपती थी। उनकी 'भुँइ' मे लोटनेवाली नही, किन्तु कमर को विना प्रयास स्पर्श करने वाली, काली, मोटी, ऊँछी-गुँछी, गोरस और दधि से धुली, स्वच्छ, मेचक, मसृण, नागिन-सी चोटी सब के आकर्षण का विषय थी। उसे पाकर सूर के बालकृष्ण भी "मैया! कबहि बढ़ैगी चोटी; किती बार मोहि दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी।" वाली चिन्ता भूल जाते। प्राचीन हिन्दू-संस्कृति उनमें कूट-कूटकर भरी हुई थी, किन्तु वे सूट-बूट बिलकुल अप-टु-डेट पहनते थे। अपने दुग्ध-फेन-सम धवल, स्टिफकालर कफो पर उन्हें गर्व था। के० वी० कम्पनी-निर्मित अपने डर्बी शू की वे स्वयं ही भूरि-भूरि प्रशंसा किये बिना नहीं रहते थे।

जिस समय आप वैश्य-बोर्डिङ्ग-हाउस मे स्थित मेडू महाराज के स्मारक-स्वरूप शिव-मन्दिर के चबूतरे पर ध्यानावस्थित होते

थें, उनके चाकरदेव वृक्षों की पत्तियों से छन कर आने वाले भगवान् अंशुमाली की किरणों का छाते द्वारा निवारण करते रहते थे। मुझे उस समय भर्तृहरिशतक मे वर्णित एक नायिका की याद आ जाती थी, जो शशि-किरणों से भी अपने को बचाती थी—

"विश्रम्य विश्रम्य वनद्रुमाणां छायासु तन्वी विचचार काचित्;
स्तनोत्तरीयेण करोद्धृतेन निवारयन्ती शशिनो मयूखान्।"

उस समय वे तपोलीन, छत्रधारी, चक्रवर्ती राजा-से लगते थे। वे धार्मिक अवश्य थे, किन्तु उनमे कट्टरता छू तक न गई थी। उनकी व्यावहारिक बुद्धि बड़ी प्रखर थी। जरूरत पड़ने पर वे पञ्चपात्र मे खरिया घोल कर यज्ञोपवीत से अपने 'केन्वश' शू को कपूर-कुन्देन्दु-सम धवल बना लेते थे।

अपनी लियाकत पर मेरे मित्र को नाज था। और, थे भी लियाकत के यकता। प्रिन्सिपल जौन्स उनके शुद्ध अँगरेजी लिखने पर फिदा थे। संस्कृत मे उनको ७५ फीसदी से कम नम्बर नहीं मिलते थे। उर्दू की इबारतआराई मे बड़े-बड़े मौलवी उनसे हार मानते थे। उनके वीणा-विनिन्दित कंठ ने उनके रूप-माधुर्य की कमी को पूरा कर दिया था। जिस समय वे 'बृहत् स्तोत्र-रत्नाकर' के श्लोकों का पाठ करते थें, बोर्डिङ्ग-हाउस मे स्तब्धता का साम्राज्य हो जाता था। क्षीर-शायी विष्णु-भगवान् की श्वास से जिस प्रकार वेद निकलते है, उसी प्रकार उनके मुख से अनुप्रासमयी भाषा निःसृत होती थी। Apt alleteration's artful aid उनके पीछे कुतिया की भाँति उनका पदानुसरण करती थी। मेस के नोटिस भी अनुप्रासमयी भाषा मे लिखे जाते थे—"Purveyor presses provokingly. Please pay promptly." एक बार उन्होंने फीरोजाबाद के कुछ लड़कों को छकाने के लिए अनुप्रास

की एक लड़ी बात-की-बात मे जोड़ दी। शेक्सपियर और कालि-दास भी शायद अनुप्रासो की वैसी छटा न दिखा सकेंगे—

'Four free, frivolous, forward fortune-fovoured fools from Firozabad factory fined four farthings for frequently flying from football field for full five fortnights."

इतनी लियाक़त रखते हुए भी वे मेरी ही तरह इम्तहान पास करने मे जल्दी नहीं करते थे। जल्दी का काम शैतान का होता है। वे 'शनैर्विद्या च वित्तं च' में विश्वास करते थे। किन्तु वे लियाक़त की कमी के कारण फेल नही होते थे। कॉलेज से सबंध बनाये रखने के लिए देवता लोग उनकी सहायता करते रहते थे। उस ज़माने मे आजकल की-सी क्षुद्र भेद-बुद्धि न थी। स्कूल और कॉलेज के साथ-साथ इम्तहान होते थे। एफ़० ए० में मेरे मित्र के रौल-नम्बर का एंट्रेंस का परीक्षार्थी अनुपस्थित था। 'अयं निजः परो वेत्ति, गणनां लघु चेतसाम्' के न्याय से उसी सीट पर वे जा डटे। पर्चा आया, उसे 'अनसीन' (Unseen) का पेपर समझ कर हल करने लगे। मन मे सोचा, पर्चों के क्रम की गारंटी नहीं होती। घंटे-भर पश्चात् उन पर रहस्य खुला कि वह सीट उनकी नहीं। इंगलिश-हिस्ट्री ली थी, किन्तु लियाक़त के ज़ोम मे रोमन-हिस्ट्री का पर्चा कर आये। बी० ए० मे एक पर्चे मे दो कापियाँ ली थीं। एक कापी मेज़ पर छोड़ी, और दूसरी पर्चे और ब्लॉटिंग मे लपेट कर बोर्डिङ्ग ले आये। उनके उत्तरों को देख कर हम लोग दंग रह गये थे।

मेरे मित्र की सभी बाते निराली थीं। उलटी भाषा बोलने का उन्हे अनुपम अभ्यास था। संस्कृत के श्लोक-के श्लोक उलटी भाषा मे पढ़ते चले जाते थे। 'मृषा वदति लोकोऽयं ताम्बूलं मुखभूषणम्; मुखस्य भूषणं पुसां स्यादेकैव सरस्वती', इसका

पाठ वे पढ़ते थे—रिमषा दवति कोलोयं, मातूलं खुं षूभणं। खुमस्य षूभणं सुंपां, द्यासेकैव रस्वत्वसी'। मॉनीटर होकर वे हाजिरी भी उलटी ही लेते थे। माधुरीप्रसाद का धामुरीरपसाद, गोविंदराम का बोगिदमार, राधारमन का धारामरन कर देते थे। वैभव-प्रदर्शन मे वे किसी प्रकार कमी नही छोड़ते थे। लियाक़त का रौब तो वे पद-पद पर जमाते थे। कभी-कभी धन का वैभव भी दिखला देते थे। घर से लाये हुए नोटो और गिन्नियो को मेज पर प्रदर्शनार्थ पड़ा रहने देते थे। एक बार प्रिंसिपेल महोदय का इंसपेक्शन हुआ। उन्होने उनके स्वागत के लिए गिन्नियो का 'वेलकम' बनाया।

अगर उनमे कमी थी, तो एक बात की। वह यह कि अपनी उदार वृत्ति के कारण वे अपने गॉव का नाम बतलाने मे संकोच करते थे। एक बार बोर्डिङ्ग-हाउस के लड़कों ने अपने-अपने ट्रंको पर अपने नाम लिखाये और नाम के साथ-साथ अपने स्थान का भी नाम लिखाया। बार-बार कहने, बड़ी दीनता के साथ अनुनय-विनय करने तथा नाम मुफ्त लिखाने के क्षुद्रतम, परन्तु मुझ-जैसे गरीब लड़के द्वारा दिये जाने के कारण महत्तम प्रलोभन देने पर भी उन्होने शिकारपुर लिखाने का साहस नही किया। डिस्ट्रिक्ट बुलंदशहर लिख कर उन्होने शहर का नाम लोगो मे अनुमान-बुद्धि के सरल एवं स्वास्थ्यकर व्यायाम के लिए छोड़ दिया। वैश्य-बोर्डिङ्ग-हाउस के वे सुखमय दिवस अब नही लौट सकते, यद्यपि मै भी हूॅ और वैश्य-बोर्डिङ्ग-हाउस भी।

शैल शिखिर पर

(मेरी कसौली यात्रा)

यद्यपि मेरे लिए छुट्टी और काम के दिनो मे विशेष अन्तर नही है—न सावन सूखा न भादों हरा,' तथापि जब छुट्टी होती है तब मै भी अपनी छुट्टी मान लेता हूँ, और साल भर व्यग्र रहे बिना भी बड़े गर्व और गौरव के साथ छुट्टी मनाने आगरे से बाहर चला जाता हूँ। कथा नही सुनता तो कथा का प्रसाद अवश्य ले लेता हूँ। आगरा रहकर करूँ भी क्या? उन दिनों वहाँ विद्यार्थियो तथा शिक्षको का, जिनके संपर्क मे मै प्रायः रहा करता हूँ, ऐसा अत्यंताभाव हो जाता है, जैसे गधे के सर से सींगो का। ड्रमण्ड रोड पर एकदम वैधव्य-सा छा जाता है।

जो लोग किसी रमणीय या दर्शनीय स्थान मे अपनी छुट्टी बिताने की आर्थिक सुविधा नहीं रखते वे बेचारे अपने घर चले जाया करते है। उन्ही लोगो मे से मैं भी हूँ। यद्यपि मेरा घर तो आगरे के पास ही है, और मुझे कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं, तथापि छुट्टियो के लिए मेरा घर फरीदकोट * हो जाता है

* मेरे भाई बाबू रामचन्द्र गुप्त उस समय वहाँ डेपूटेशन पर थे।

क्योंकि वही मेरे पिताजी रहते हैं। 'तहाँ अवध जहाँ राम निवासू।
कुछ दिन फरीदकोट रहा। पूर्ण परिवार के साथ रहने का आनन्द उठाया। यद्यपि गर्मी वहाँ भी आगरे से कम न थी, और धूप ऐसी कड़ाके की पड़ती थी कि 'छाहौ चहति छाँह' की बात चरितार्थ हो जाती थी, तथापि सब लोग एक कमरे में, ('अहि-मयूर' मृग-बाघ' की भाँति नहीं,) लड़ाई के समय मे दुर्गस्थ लोगों की भाँति, विद्युत-व्यजन की संरक्षता मे समय बिता देते थे। रात्रि मे खुली छतो के ऊपर तारक-विखचित गगन-वितान के नीचे सोने को मिलता था। फरीदकोट मे पानी की टोट के कारण सूए (बम्बे) मे प्रातः-सायं भैंसो की भाँति लोट पोट होने चला जाया करता था दिन सुख से बीत रहे थे। किन्तु लोभ बुरा होता है। अध्ययन का लोभ मुझे लाहौर घसीट ले गया, विशेषकर ऐसे समय मे, जब वहां गर्मी ने उग्र रूप धारण कर रक्खा था। आगरे को लोग बहुत गरम बतलाते हैं, और है भी; परन्तु उन दिनो आगरे और लाहौर की गर्मी मे चूल्हे और भाड़ का-सा अन्तर प्रतीत होता था। बन्द कमरे मे पंखे के नीचे भी अनलमय अनिल का सामना करना पड़ता था। इस गरम हवा के आगे बिहारी की बिरहिणी नायिका की उच्छ्वास या जायसी की नागमती की विरह के अक्षरों से दग्ध पातीभी शायद शीतल मालूम होगी पंखे से हटकर बैठने मे स्वेद-सलिल की सरिता में निमग्न होना पड़ता था। इस गर्मी के आगे अध्ययन कीसरगर्मी को सर झुकाना पड़ा। मै चार रोज रहकर भागने वाला ही था कि बैठे-ठाले एक आफत और सर लग गई। *"एकस्य दुःखस्य

---

* समुद्र के पार की तरह जब तक एक दु:ख के अन्त तक नहीं पहुँचा था, कि दूसरा उपस्थित हो गया। जहाँ कोई कमी होती है, वहाँ अनर्थ अधिक होते हैं।

न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य; तावद्द्वितीयं समुपस्थितं, मे छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति ।" 'गरीबी में आटा गीला ।'

पाँच जुलाई की सायंकाल को पशु पक्षियो की भाँति मै भी अपने निवास स्थान को लौट रहा था । गर्मी के कारण गति भी मन्द न थी । दार्शनिक और तार्किक होता हुआ भी 'घृताधारं पात्रं वा पात्राधारं घृतम्' के चक्कर मे विचार-मग्न भी न था । खूब सतर्क था, तो भी न जाने कहाँ से दो श्वानदेव (मालूम नहीं कैसे थे—पागल अथवा स्वस्थ, क्योकि केवल पागल ही नहीं लड़ा, बुद्धिमान मनुष्य भी लड़ा करते है ।) आपस मे मल्ल-युद्ध करते और रौद्र-रस के अनुभवो का पूर्ण प्रदर्शन करते हुए विद्युत्-गति से मेरी टाँगों के पीछे आ गये । मै पीछे देखने भी न पाया था कि उनके नख मेरी टाँग मे लग गये । मेरे शान्तिमय स्पर्श से श्वान-मल्लो का विरोध शान्त हो गया । इसका मुझे गौरव है । मल्लो ने हार जीत बराबर मान अपने अपने घर की राह ली । किन्तु मेरे पीछे एक बला लग गई । इसी को कहते हैं कि आपत्ति कोई मोल लेने नहीं जाता ।

न्याय-शास्त्र के कर्त्ता महर्षि गौतम एक बार कुछ सोचते हुए चले जाते थे । बेचारे आगे न देख सके, और कुएँ मे गिर पड़े । भगवान् ने दया करके उनके पैरों में आँखे दे दी, तभी से उनका नाम अक्षपाद पड़ा । यदि भगवान ने उस समय सारी मनुष्य-जाति के ये कम-से-कम अक्षपाद प्रभु के तार्किक अनुयायियो के पैरो मे नेत्र दे दिये होते, तो शायद मै इस आपत्ति से बच जाता । नायक-नायिकाओं के नख-क्षतो का वर्णन साहित्य मे पढ़ा था । यद्यपि उसमे भी थोड़ा पागलपन रहता होगा, तथापि उसके कारण किसी को कमरे से बाहर नहीं जाना पड़ता था । इन श्वान महोदयो के नख-क्षत के कारण चौदह बार सूचिका-बेध (Injection) के प्रायश्चित्त की, बात-की-बात

में, डाक्टर ने व्यवस्था दे दी। जिस प्रकार स्पर्शमात्र से मनुष्य कलंकित हो जाता है, उसी प्रकार कुत्ते के काटे हुए व्यक्तियो की गणना में मै भी आ गया।

न्यायालयो मे जब तक अभियुक्त पर जुर्म साबित न हो जाय, तब तक वह निर्दोष समझा जाता है, किन्तु चिकित्सालयों मे कुत्ता जब तक गैर-पागल प्रमाणित न हो जाय, तब तक पागल ही माना जाता है। अपागल प्रमाणित करने की केवल एक विधि है—कुत्ते को बाँध रक्खा जाय। यदि वह दस दिन तक न मरे, तो स्वस्थ है, अर्थात् पागल नहीं है। और, यदि दस दिन के भीतर मर जाय तो पागल है। दस दिन की राह देखने मे देरी हो जाने की आशंका से डाक्टर लोग इंजेक्शन फौरन ही शुरू कर देते हैं। यदि कुत्ता दस दिन मे न मरा, तो इंजेक्शन बन्द कर देते है। कुत्ते का पता यदि निश्चित रूप से लग जाय तो उसको कम-से-कम दस दिन तक जीवित रहने के लिए भगवान् मृत्युञ्जय की आराधना करनी पड़ती है। पागल कुत्तो के मस्तिष्क की भी अनुवीक्षण-यन्त्र (Microscope) द्वारा परीक्षा की जाती है। यदि भावात्मक फल आया, तब तो निश्चय हो जाता है कि कुत्ता पागल था, किन्तु यदि उसके दिमाग में पागलपन के चिन्ह न मिले, तो यह निश्चय नही होता कि कुत्ता पागल नहीं था। इसलिए दस रोज तक कुत्ते को मेहमान बनाकर उसकी प्रतीक्षा करना ही श्रेयस्कर है। हॅसी की दूसरी बात है, पर आशंका मात्र पर भी इन्जेक्शन लेना परम आवश्यक है। यदि एक बटा दस प्रति शत भी आशंका हो, तो जान खतरे में न डालनी चाहिए। जान तो वैसे ही सदा खतरे मे रहती है, किन्तु जान-बूझकर मौत की राह जाना ठीक नही। शरीर मे यदि जरा भी जहर प्रवेश कर जाय, और मनुष्य को हाइड्रोफोबिया अर्थात् जल-विक्षिप्तता (इस बीमारी वाला जल से डरता है। प्यास होते

हुए भी पानी नहीं पी सकता।) हो तो वास्तव में कुत्ते की मौत मरना पड़ता है। यह रोग असाध्य हो जाता है। वह मनुष्य भी कुत्ते की तरह काटने को दौड़ता है। यदि उस मनुष्य की लार किसी को लग जाय, तो उसे भी इन्जेक्शन लेना आवश्यक हो जाता है। कुत्ते के नख या दंत-स्पर्श होते ही, तुरन्त अस्पताल में जाकर, क्षत को नश्तर से खुरचवाकर कास्टिक लगवा लेना चाहिए। इस क्रिया को 'कोटेराइज' करना कहते है।

'शुभस्य शीघ्रम्' न्याय से डाक्टरो ने लाहौर मे ही इंजेक्शन देना आरम्भ कर दिया। दो इन्जेक्शनो मे ही भूगोल का पढ़ा हुआ सत्य प्रमाणित होने लगा कि पृथ्वी घूमती है - यद्यपि इस टीके का वेक्सीन अब आगरे, लखनऊ, दिल्ली आदि स्थानो के अस्पतालो मे रहता है और जिस प्रकार सब स्थानो का गंगाजल पवित्र और मोक्षप्रद होता है, उसी प्रकार सभी स्थानो में इस टीके से पूर्ण लाभ होता है, तथापि जिस प्रकार हरिद्वार का कुछ और ही महत्व है, उसी प्रकार कसौली की भी विशेषता है। यदि दुर्भाग्य से किसी को गर्मी के दिनों मे कुत्ता काटे, और उसे आर्थिक असुविधा न हो, तो वह अवश्य कसौली जाय। यहाँ पर आतप की व्यथा कम व्यापती है।

मैने भी फरीदकोट जाकर, किसी प्रकार माँग-जाँच कर गर्म कपड़े जुटाये और कसौली की राह ली। मैने सोचा, कुत्ते ने काटा तो काटा, कसौली की सैर तो हो जायगी। साहब लोगों की भाँति गर्मियो में शैल-शिखर-वास कर लूँगा। "बधिया मरी तो मरी, आगरा तो देखा।" यहाँ पर आतप के भीषण ताप से बच जाऊँगा, और चतुर्दश (मुझे तो द्वादश ही लगे, क्योंकि दो लाहौर मे लग चुके थे) सूचिका-वेध द्वारा पूर्व जन्म के पाप (मैं यह नहीं कहता कि इस जन्म मे मैने पाप नहीं किये) का प्रायश्चित्त हो जायगा। 'गोरस-बेचन, हरि-मिलन; एक पन्थ,

दो काज' की बात चरितार्थ होगी । अस्तु, भटिण्डा और राजपुरा बदलता हुआ अम्बाला पहुँचा। वहाँ कुछ वर्षा भी हो चुकी थी। दूसरे वातावरण में प्रवेश हुआ। गाड़ी में कुछ नींद भी आई। कालका से दो-एक स्टेशन पूर्व आँख खुली।

गाड़ी की लड़खड़ाती हुई चाल से प्रतीत हो गया कि हम लोग पर्वतीय प्रदेश मे प्रवेश कर रहे है। गाड़ी में दो एञ्जिन थे, तब भी वह नौ दिन मे अढ़ाई कोस की चाल चल रही थी। ईषद्विच्छिन्न मेघावली में अरुणोदय बड़ा सुहावना लगता था। गम्भीर नीलिमा मे स्वर्ण-रजतमय प्रकाश की शलाकाएँ अपूर्व शोभा दे रही थीं। शीतल वायु के स्पर्श ने शरीर मे एक अपूर्व स्फूर्ति उत्पन्न कर दी। अकारण हँसी आने लगी—लाहौर मे तो हँसाये पर भी हँसी न आती थी। गर्म वासकट धारण की, स्टेशन पर पहुँचा, कुलियो ने असबाब उतारा, और मै प्लेटफार्म पर खड़ा हो गया।

मुझे शास्त्रीय ज्ञान तो था, अनुभवीय ज्ञान न था। धरमपुर का टिकट ले चुका था, क्योंकि रेलवे के टाइमटेबुलो मे कसौली के लिए धरमपुर का ही स्टेशन बतलाया जाता है। वैसे कालका से कसौली के लिए मोटरे सस्ती मिल जाती है। 'पासच्युर इंस्टिट्यूट' को एक छोटी लारी भी नित्य आती-जाती है। सड़क के रास्ते कालका से कसौली केवल २२ मील है, और रेल के रास्ते क़रीब २८ मील पड़ता है। वर्षा के समय रेल में कुछ सुविधा रहती है। ख़ैर। धरमपुर पहुँचा। वहाँ के स्टेशन का वातावरण बड़ा शान्त है। पहाड़ी स्टेशनो का वातावरण प्रायः ऐसा ही होता है। वर्षा हो रही थी। मोटर मिलने मे कुछ कठि-नाई अवश्य हुई, किन्तु सकुशल कसौली आ गया।

पासच्युर इंस्टिट्यूट मे ग़रीबों के लिए मुफ्त ठहरने का स्थान है, और अमीरों के लिए आठ आना रोज़ पर अच्छे

क्वार्टर मिल जाते हैं। विक्टोरिया-होटल भी अच्छा है। गरीबों के क्वार्टर तो जैसे मुफ्त के कार्टर होते हैं, वैसे ही होते है, किन्तु यहाँ गरीबो के लिए कम्बल और बर्तन भी मिलते हैं। खाने के लिए बालिग आदमी को छः आने रोज़ और बच्चे को तीन आने रोज मिलते है। मुझे तो छोटे भाई के पुण्य-प्रताप से क्लब के पास एक अच्छा स्थान मिल गया था। मै कोठी के मालिक के लिए हृदय से अनुगृहीत हूँ। हाँ, वह स्थान बड़ी ऊँचाई पर था। चढ़ते-चढ़ते राम याद आते थे। कबीरदासजी की ऊँचाई का आदर्श तो लम्बी खजूर ही है (आखिर मुसलमानी संस्कार कहाँ जाते ?)। वे तो साईं का घर भी लंबी खजूर की ही बराबर दूर बतलाते हैं, लेकिन मैं जहाँ ठहरा था, वह स्थान बहुत ऊँचा था। खजूर से ऊँचे तो यहाँ के चील के दरख्त होते हैं (कसौली को समुद्र की सतह से ५००० फीट ऊँचा बतलाते हैं। मुझे ५००० फीट नहीं चढ़ना पड़ा)। मेघ भी पर्वत-शृंगों के आगे ऊँचे नहीं मालूम होते।

यहाँ वर्षा प्रायः नित्य होती है। बिना छाता बरसाती के काम नही चलता। तभी तो कालिदास का यक्ष मेघ की आर्द्रता (दयार्द्रता) का अनुभव कर उसको अपनी विरह-गाथा सुना कर अपनी प्रियतमा के लिए संदेश-वाहक बनाना चाहता था। जो अपने निकट होता है, उसी से बात की जाती है।

कसौली कुत्ते के काटे वालों के लिए तो प्रधान तीर्थ स्थान है ही, किन्तु यहाँ जो लोग रहते है, वे सब कुत्ते के काटे हुए ही नही रहते। यहाँ पर एक बहुत सुन्दर छावनी है। यहाँ की सड़के बहुत रमणीक है। चढ़ाव उतार की और चक्करदार अवश्य हैं, किन्तु उनके दोनों ओर खूब हरियाली रहती है। कुछ स्वाभाविक उपज है और कुछ लगाई हुई है। बाजार भी अच्छा है। यहाँ पर गिरजाघर, क्लबघर, बारके, डेरी आदि देखने योग्य हैं।

मंकीपाइन्ट अर्थात् बानरशृङ्ग यहाँ का उच्चतम शिखर है। जाडो में खूब बरफ पड़ती और आबादी कम हो जाती है।

कसौली का कुत्ते का अस्पताल (नहीं-नहीं, कुत्ते के काटे हुए मुझ-ऐसे आदमियो का अस्पताल) पासच्युर इन्स्टिट्यूट बहुत बडी संस्था है। पासच्युर एक फरासीसी डाक्टर का नाम है, जिन्होने पहले-पहल इस प्रकार के इलाज की ईजाद की थी। उन्ही के नाम पर इस सस्था का नाम पड़ा है। यहॉ पर करीब ७० या ८० आदमी काम करते है। इन्जेक्शन देने के लिए भी कई डाक्टर रहते है। जख्मो के ड्रेसिङ्ग का अलग प्रबन्ध है। नखों और दांतो के क्षतो की गहराई और संख्या के हिसाब से रोगियों की चार कक्षाएँ की जाती है। चौथे वर्ग के लोगो से इन्जेक्शन लगना शुरू होता है, और नम्बरवार इन्जेक्शन लगते जाते हैं जब से इंजेक्शन का सामान तैयार होकर बाहर जाने लगा है। तब से यहां रोगियो की संख्या घट गई है। करीब बोस और तीस के बीच मे हाजिरी रहती है।

इस इंस्टिट्यूट में इंजेक्शन लगाने के अतिरिक्त वेक्सीन और सीरम भी तैयार किये जाते है। इसके लिए यहाँ पर बहुत से खरगोश और भेड़े भी रहती है। बन्दरो पर तैयार किये हुए वेक्सीन और सीरम की परीक्षा होती है।

इस इस्टिट्यूट के अतिरिक्त यहाँ पर एक सेन्ट्रल रिसर्च इंस्टिट्यूट अर्थात् केन्द्रीय गवेषणा-संस्था भी है। यहॉ पर सॉप के काटे, प्लेग, कालरा आदि के इजेक्शनो का सामान तैयार किया जाता है। यह सस्था पासच्युर इंस्टिट्यूट से भी अधिक महत्व की है, किन्तु लोग इसे कम जानते है। यहाँ से सहस्रो रुपए का वेक्सीन हिन्दोस्तान भर मे जाता है। इस संस्था मे एक घोड़े की तसवीर है जिसके द्वारा १०,०००) का साँप के काटे का

सीरम तैयार कराकर बाहर भेजा गया है। इस सीरम को ऐंटी-वेनम अर्थात् जहरमोरा कहते हैं।

यहाँ के केन्टूनमेन्ट मजिस्ट्रेट मेरे मित्र निकले, उन्हीं की कृपा से यह सब देखने को मिला। दुनिया बहुत बड़ी नही है, हर जगह कुछ न कुछ जान-पहचान निकल आती है। बारह दिन कसौली रहकर खूब सैर की। अकेले रहकर स्वालम्ब का पाठ पढ़ा। यद्यपि उस कोठी का मुसलमान बैरा मेरी बहुत कुछ मदद करता था तथापि थोड़ा बहुत खाना मै स्वयं बनाता था। एक वक्त एक होटल में खाता था। सब से अच्छी बात यह थी कि कुछ दिन के लिए पुस्तको से छुट्टी मिल गई। बाजार मे हिन्दी की पुस्तकों का अभाव था। अंग्रेजी के दो उपन्यास पढ़े और यह लेख लिखा। कसौली यात्रा का इतना ही साहित्यिक महत्व था।

ठोक-पीट कर लेखक-राज

१

(मैं लेखक कैसे बना ?)

शास्त्रो में कहा गया है कि 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते'। वे संस्कार क्या थे जिनसे मैंने लेखक रूपी द्विजत्व प्राप्त किया ? मैंने आठवें दर्जे तक फारसी पढ़ी। नवें दर्जे में जब फारसी के साथ अरबी पढ़ने का सवाल आया तब मैंने सोचा कि मुल्ला बनने से पण्डित बनना अच्छा है। हिन्दी का ज्ञान अक्षर-बोध से कुछ अधिक था। ध्रुवलीला और प्रह्लादलीला तक मेरी पहुँच थी। तुलसीकृत रामायण का श्रवण-सुख लेना ही मैं पसन्द करता था। कभी-कभी धार्मिक दृष्टि से पाठ भी कर लेता था। बहुत हुआ तो आर्य समाज और सनातन धर्म के शास्त्रार्थ-सम्बन्धी ट्रैक्ट पढ़ लिये। उस समय और पढ़ने को था भी कुछ अधिक नहीं, भजनों की किताबों का थोड़ा प्रचार अवश्य था। खैर सनातन धर्मी होते हुए भी मैंने आर्य समाजी पण्डित तुलसीरामजी की किताबों से संस्कृत आरम्भ की। (उस समय शायद पण्डित तुलसीरामजी सनातन धर्मी हो गये थे) मैट्रिक मे संस्कृत लेकर पास हो गया। फर्स्ट ईयर में आया। ग्राउस साहब के रामायण के अँग्रेजी अनुवाद से

रामायण के काव्य-सौन्दर्य का अनुभव किया। पहले जब रामायण की कथा सुना करता था तब वह मेरी कौतूहल-बुद्धि की तृप्ति करती थी। भट्टजी की रामायण से कुछ अंश और कुछ अंश पण्डित ज्वालाप्रसादजी की रामायण से पढ़े, किन्तु पूर्ण नही। मै अपूर्णता मे अधिक विश्वास करता हूँ। रामायण का पूर्ण पाठ दो-चार बार परमात्मा को रिश्वत देने के अर्थ अवश्य किया। बी० ए० मे आकर पिताजी के पाठ की विनय-पत्रिका के कुछ पद पढ़े। विनय-पत्रिका का पहला परिचय मुझे 'केशव कहि न जाय का कहिए' के अँग्रेजी अनुवाद से हुआ जो मैंने बाबू भगवानदास की किसी अँग्रेजी पुस्तक मे पढ़ा था। मुझे उस समय उस पद मे दर्शन-शास्त्र का सार सा प्रतीत होता था। उसको पढ़कर मुझे उतनी ही प्रसन्नता हुई थी जितनी कि आर्शमीदस (Archemedes) को सापेक्षित गुरुत्व के सिद्धांत को जानकर हुई होगी।

वैश्य बोर्डिङ्ग हाउस के जीवन मे कुछ देश-भक्ति के संस्कार बन गये थे। स्वदेश के अभिमान के साथ स्वभाषाभिमान भी जाग्रत् हो गया। 'भारत भाल-बिन्दी हिन्दी' की भी चर्चा होने लगी। उन दिनों हिन्दी की नयी-नयी पुस्तके निकल रहीं थी। राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर गरमागरम बहस हुआ करती थी। जस्टिस शारदाचरन् मित्र और न जाने किन किन की दुहाई दी जाती थी। देवनागरी अखबार निकलने से राष्ट्र-भाषा का भविष्य उज्ज्वल दिखाई पड़ने लगा था। 'निज भाषा उन्नति अहे सब उन्नति को मूल' का पाठ प्रत्येक देशप्रेमी महाशय के मुख पर था। उस वातावरण मे अछूता रहना विशेषकर मुझ ऐसे भावुक हृदय के लिए असम्भव था। हिन्दी के प्रभाव को अग्रसर करने में इटावा के मित्रवर सूर्यनारायण और फीरोजाबाद के सुहृद्वर माधुरी-प्रसादजी का विशेष हाथ था। इन लोगो की श्रद्धा भक्ति संक्रामक

थी। मैंने भी सोचा कि बिना मातृभाषा-प्रेम के बन्दे मातरम् की पुकार अधूरी है। मैं उस समय अंग्रेजी मे कुछ लिखने लग गया था, मेरे भेजे हुए एक दो संवाद और शायद दो-एक लेख लीडर मे छप चुके थे। फूल वे जो महेश पर चढ़ें। बात वही जो अखबार मे छपे। मै अपने को धन्य समझता था। उस समय तक मुझे हिन्दी लिखने की शक्ति मे विश्वास न था। हनूमानजी की तरह मुझे शक्ति की याद दिलाने की जरूरत थी। फीरोजाबाद के भारती-भवन का सालाना जलसा था। पूज्य किशोरीलाल गोस्वामीजी उसके सभापति होने वाले थे, स्वागताध्यक्ष का भार मुझे सौंपा गया। पीछे से वह किन्हीं बृहत्तर व्यक्ति के सुविशाल स्कन्धो पर रक्खा गया। मेरा भाषण तैयार हो चुका था। उसको मैंने स्वागताध्यक्ष के रूप से तो नही वरन् एक साधारण सदस्य के रूप से पढ़ा। लोगों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसे किसी अखबार मे, शायद 'भारतमित्र' मे भेज दिया। मैं गंगा-तुलसी तो नही उठा सकता लेकिन मेरा ख्याल है कि वह छप गया था।

दर्शन-शास्त्र का विद्यार्थी होने के कारण मेरे पास विचारो की कमी न थी। राजू साहब ने नई-नई समस्याओ से मेरा परिचय करा दिया था। 'बादल से चले आते थे मजमूँ मेरे आगे।' संस्कृत के चलते ज्ञान के कारण शब्द गढ़ने का कौशल मुझमे आ गया था। अंग्रेजी के रचना सम्बन्धो नियम कुछ जानता था उन्हीं के आधार पर मै अपनी घन्नई को ख्याति के सागर मे तैरा ले गया।

पहले-पहल मेरे लेखों को इलाहाबाद के 'विद्यार्थी' ने अपनाया। यह स्वर्गीय देवेन्द्रप्रसाद जैन की, जिनका परिचय श्री जमुनाप्रसादजी द्वारा हुआ था, कृपा का फल था। पहला लेख साहित्य के क्रम विकास पर था, दूसरा लेख श्री डोवसन साहब

से सुने हुये हेगिल के कला-विवेचन पर था। कलाओं मे काव्य के स्थान पर शायद मैने ही पहला लेख लिखा था। यह १६१२ या १३ की बात है। १६१३ मे मै छतरपुर पहुंच गया था। उसी साल 'शान्ति-धर्म' नाम की मेरी पहली किताब निकली। देवेन्द्र-प्रसाद जैन के प्रकाशन को देखकर मै मुग्ध हो गया था। जिस प्रकार एक अंग्रेज महिला ताजमहल को देखकर इस शर्त पर प्राण-त्याग करने को तैयार हो गई थी कि उसकी भी कब्र ताज-महल जैसी बना दी जाय, उसी प्रकार मै भी लेखक बनने को इस शर्त पर तैयार हो गया कि देवेन्द्रप्रसाद के अन्य प्रकाशनों की-सी सजधज के साथ मेरी भी पुस्तक इण्डियन प्रेस मे छपवा दी जाय। पुस्तक प्रकाशित तो प्रेम-मन्दिर आरा से ही हुई किन्तु छपी इंडियन प्रेस में। फैदरवेट पेपर और चॉदी के वर्कों के साथ घुटी हुई स्याही के कारण उसका गेटअप बड़ा आकर्षक हो गया था। दूसरी किताब 'फिर निराशा क्यों ?'के नाम से छपी। उसका भी विचित्र इतिहास है। उस समय 'भारत विनय' नाम का मिश्र-बन्धुओ की कविताओं का संग्रह निकला था। उसकी आलोचना मे 'भारतमित्र' ने लिखा था कि इसकी पद्य तो ऐसी है जो गद्य के कान काटे। उसी समय मेरे मन मे यह बात आई कि मै गद्य ऐसी लिखूँ जो पद्य के भी कान काटे। इसी प्रेरणा से 'फिर निराशा क्यों ?' लिखी। उस समय गद्य-काव्य का लिखना बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में था। उस पुस्तक का सम्पादन श्री शिवपूजनसहाय ने किया था। इसी ने मुझे हिन्दी के निबन्ध-लेखको की पंक्ति मे बैठने का प्रवेश पत्र दिलवाया।

श्री सुखदेवबिहारी मिश्र की सिफारिश से मुझे मनोरञ्जन-पुस्तकमाला मे तर्क-शास्त्र लिखने को मिला। लोकमान्य तिलक के गीता-रहस्य के सुनने से (उसको श्री वियोगी हरि ने मुझे सुनाने की कृपा की थी) मेरी यह धारणा हुई थी कि भारतीय

दृष्टिकोण से कर्त्तव्य-शास्त्र लिखा जा सकता है। मनोरञ्जक-पुस्तकमाला में एक पुस्तक छप जाने से मै अपने को लिक्खाड़ समझने लगा और जिस प्रकार चीता एक बार मनुष्य को मार लेता है फिर वह शिकारी बन जाता है—उसी प्रकार मेरी झिझक छूट गई। नागरी प्रचारिणी सभा से मेरा सीधा सम्बन्ध हो गया, उसके लिए तर्क-शास्त्र और पाश्चात्य दर्शनो का इतिहास लिखा।

अभी तक मैंने दार्शनिक पुस्तके ही लिखी थी। छतरपुर की नौकरी के अवसर पर मैनपुरी भी जाया करता था। वहाँ प्रज्ञा-चक्षु श्री धनराज जी शास्त्री से साक्षात्कार हुआ। उनको बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ मुखस्थ थे। उन ग्रन्थो की प्रामाणिकता मे तो संदेह है किन्तु उनकी सामग्री बड़ी अपूर्व थी। उन्होंने एक दिन नवरस का विषय छेड़ा। उसमे मुझे बहुत महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक सामग्री दिखाई पड़ी। मैंने छतरपुर जाते ही नवरस के विषय का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। उस समय अयोध्या-नरेश के लिखे हुए रस-रत्नाकर के अतिरिक्त हिन्दी-गद्य मे इस विषय का और कोई ग्रन्थ न था। इस विषय पर पहला लेख इन्दौर के पहले साहित्य-सम्मेलन के लिए लिखा। उसी को विस्तृत कर पुस्तकाकार कर दिया। अब उसका दूसरा संस्करण भी हो गया है। यंत्रस्थ रहने के समय मुझे उसके दर्शन न होने के कारण उसमे बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गई है जिनसे मै स्वयं तो बहुत लज्जित हूँ, फिर भी समझता हूँ कि पाठक को उसमें कुछ महत्त्व-पूर्ण मनोवैज्ञानिक सामग्री मिल जायगी।

'ठलुआ क्लब' के शीर्षक का सुझाव जेरोम के० जेरोम (Jerome K. Jerome) के Idle Thoughts of an Idler से हुआ था। दोनो पुस्तकों के समर्पण मे कुछ समानता है—उसने अपनी पुस्तक अपने चिर-सखा स्मोकिंग पाइप (Smoking pipe) को समर्पित की है, मैनें अपनी पुस्तक

चिर-संगिनी शैया देवी को है। इसके सिवा और कुछ उससे नही लिया।

ये पुस्तके तो स्वान्तःसुखाय लिखीं, शेष पुस्तकों का अधिकांश में 'उदर-निमित्त' निर्माण हुआ। उदर-निमित्त लिखी हुई पुस्तकों मे प्रबन्ध-प्रभाकर, हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास, विज्ञान-वार्ता और हिन्दी-नाट्य-विमर्श मुख्य हैं। इन पुस्तकों के लिखने की प्रेरणा इनके सुयोग्य प्रकाशको से ही मिली। इस प्रकार मै ठोक-पीट कर लेखकराज बन गया। मैने ख्याति का उपार्जन छतरपुर रहते हुए ही कर लिया था किन्तु आगरा आकर थोड़ा ज्ञान का सञ्चय किया। अब केवल इतना ही जानना है कि मेरी मदान्धता दूर हो सके। छतरपुर से यहॉ आने पर मुझ पर आचार्य शुक्लजी का बहुत प्रभाव पड़ा। जब तक मै छतरपुर रहा तब तक विद्या-व्यसनी होने मे मिश्र-बन्धुओ--विशेषकर सुखदेवबिहारी--से प्रभावित रहा।

ठोक-पीट कर लेखक-राज

२

(मैं कहानी और कविता क्यों न लिख सका ?)

मैने अपने जीवन मे कोई कहानी नही लिखी। इसलिए नही कि वह लिखने योग्य चीज नही है वरन् इसलिए कि मुझमे कहानी लिखने की योग्यता नही। मैं कहानी लिखने को कहानी की लोमड़ी की भॉति खट्टे अंगूर न कहूँगा। वह मेरे लिए विशेष महत्व की चीज है। जिस बात को मै करने मे समर्थ होता हूँ मेरी निगाह मे उसका महत्व नहीं रहता है। इसलिए मै कभी कभी कह देता हूँ कि मैने अपने जीवन में कोई महत्व का कार्य नही किया और न कर सकूँगा क्योकि जिस कार्य को मै कर सकूँगा उसको कोई मूर्ख भी कर सकता है। कहानी लिखना उन चीजो मे नही है। कहानो लेखक एक नई सृष्टि की रचना करता है। वह ग्रामोफोन या टेलीफोन की आवाज़ की भॉति चाहे पहली आवाज की प्रतिलिपि ही क्यो न हो किन्तु नई सृष्टि होती है। वह ईश्वर का भी प्रतिस्पर्धी है; वह सच्चे कवि की भॉति रवि की भी पहुँच से बाहर (सन्दूकनुमा मकानो की सील-भरी बन्द कोठरियो मे नही) असूर्य स्पर्शी (राजमहल की पट-रानियॉ न समझिए) मन की भावनाओ का भी साक्षात्कार कर

लेता है। वह जीवन की आलोचना ही नहीं करता वरन् स्थाली-पुलाक-न्याय (हाँडी के एक चॉवल की भाँति) एक ही मार्मिक घटना में मनुष्य के सारे चरित्र पर विद्युत प्रकाश डाल देता है। यदि मैं कहानी लिख सकता तो जरूर लिखता क्योंकि मैं संसार से इतना उदासीन नहीं हूँ कि जो सहज में शक्य हो उसके लिए महत्वाकांक्षा न रक्खूँ। हाँ आकाश के तारे नही तोड़ना चाहता।

कहानी लेखक के कुछ स्वाभाविक गुण होते हैं शायद कुछ दोष भी। मैंने पूरा आत्म-विश्लेषण करने का तो उद्योग नहा किया है किन्तु सरसरी तौर से देखने पर दो एक बातो की कमा अवश्य पाता हूँ इसीलिए कहानी लेखक न बन सका।

मै इतना बड़ा आदमी नहीं हूँ कि लोग मेरी खुशामद करें। यदि मैं होता तो शायद मेरे ख़ुशामदी लोग कहते 'हुजूर बड़े सत्य के प्रेमी हैं, कहानी में झूठ-सच सभी रहता है, इसीलिए आप कहानी नहीं लिख सकते और कोई यह भी कह देता कि आपको दूसरों की भलाई-बुराई से क्या काम ? आपको तो अपने काम से काम। यह दोनो ही बाते 'प्रियं ब्रूयात्' तो होतीं किन्तु 'सत्यं ब्रूयात्' से बहुत दूर हैं। मैंने अपने जीवन मे काफी झूठ बोला है। अपने प्रतिस्पर्धियो की या जिनकी मैंने प्रतिस्पर्धा करना चाहा है, उनकी (अपने से छोटो की नही) भलाई-बूराई भी ऊपर से उपेक्षा भाव दिखाते हुए, परन्तु भीतर से पृथु की भाँति सहस्र-कर्ण होकर सुनी है। जैसा लोग समझते हैं, कहानी लेखक झूठा भी नहीं होता, घटना का सत्य नहीं तो भावना का सत्य तो वह एक विशेष बल के साथ कहता है। मेरी असफलता का कुछ और ही कारण होगा।

कहानी लेखक के लिए सब से पहला गुण है--सहृदय निरीक्षण और प्रभावित होने की शक्ति। और दूसरी चीज है--कल्पना

के सहारे उसके आगे पीछे और अन्तर्बाह्य के कुलावे मिला कर एक तारतम्यपूर्ण कथा को अच्छी भाषा मे रूप दे देना। मुझ मे निरीक्षण भी है, सहृदयता भी है, और गर्व के साथ कह सकता हूँ कि बहुत से कहानी लेखकों से कुछ अधिक प्रभावित भी होता हूँ किन्तु सहृदयता इतनी बढ़ी हुई नही है कि वस्तु के सामने न रहते हुए भी मै उसकी उधेड़बुन मे पड जाऊँ। मैं वह सच्चा प्रेमी नही जो दूसरों की बात को भी प्रेमिका की बातो का-सा महत्व दूँ। मै जितना शीघ्र प्रभावित होता हूँ उतने ही शीघ्र वह प्रभाव उड़ जाता है। मै आवारागर्दी तो काफी करता हूँ, एक जगह न ठहरने मे नारदमुनि से बढ़ा-चढ़ा हूँ। किन्तु न तो किसी बात को अन्त तक पहुँचते देखने की मुझ मे सावधानी है और न कल्पना को ही इतना कष्ट देना चाहता हूँ कि उसके आगे-पीछे की बात जोड़ दूँ। पल्ले दर्जे का आलसी वही है जो कल्पना को भी कष्ट न दे।

कल्पना करने मे मैं नितान्त असमर्थ नही हूँ। उपन्यासकार या कहानीकार की भाँति मै भी आगे-पीछे की कुछ कल्पना कर सकता हूँ, किन्तु जिसको देखा नही उसके ब्यौरेवार वर्णन करने मे मै असमर्थ हूँ। निशाना लगाने के लिए अर्जुन ने पक्षी की आँख ही देखी थी, उसके लिए और सब अनावश्यक था किन्तु केवल आँख बिना शरीर के नहीं रह सकती। कहानीकार देखता तो आँख को ही है किन्तु वह उस आँख को रेखा-गणित के बिन्दु की भाँति नहीं वरन् शरीर के अङ्ग की भाँति। मैं लक्ष्य को देख सकता हूँ किन्तु मुझ मे उसके पहुँचने के मार्ग को देखने का सब्र नहीं। मेरे मन की गति मन की-सी गति रहती है, वास्तविक संसार की-सी गति नही होती। मै आम खाना (अलङ्कारिक और वास्तविक भी) जानता हूँ किन्तु पेड गिनना नहीं। पेड़ गिनना चाहे दूसरे के लिए अनावश्यक हो, कहानीकार के

लिए वह भी आवश्यक है। मै रूप-रेखा चाहे बना लूॅ किन्तु उसको मांसल नहीं कर सकता। यह शायद मेरी दार्शनिक दीक्षा का फल हो। मेरे लिए कहानी अब भी बड़ी चीज़ है। जब कहानी और वासनाकार हो जायगी तब शायद मै भी कहानी कार का गौरव प्राप्त कर सकूॅगा।

कौन किस परिस्थिति मे क्या कहेगा यह मै मनोवैज्ञानिक की हैसियत से थोड़ा बहुत जानता हूॅ किन्तु परिस्थिति उत्पन्न करने से मेरी कल्पना पंगु रह जाती है। उस पर सरस्वती देवी की वह कृपा नही हुई जिससे 'पंगु' लंघयते गिरिम।' मै उपस्थित की हुई परिस्थिति मे हास्य देख सकता हूॅ लेकिन परि-स्थिति का निर्माण नही कर सकता। इसीलिए मै अपनी ही कहानी लिखने मे सफल हुआ हूॅ किन्तु उसमे कोई महत्व की बात नही क्योकि अपनी राम-कहानी तो सभी कह लेते है। दूसरो की बात जो कहे वही सच्चा सहृदय और आत्म-त्यागी है।

इसी प्रकार कवि-हृदय पाकर भी मै कविता नहीं लिख सका। इसका कारण तो यह है कि जब तक गहरी वेदना न हो तब तक कल्पना जाग्रत नहीं होती। बहुत सी बड़ी-बड़ी बातो को मै दार्शनिक उपेक्षा से देखता हूॅ यद्यपि कभी-कभी छोटी-छोटी बातों से मेरे मन की शान्ति विचलित हो जाती है। इसके अतिरिक्त मैं संगीत नहीं जानता। इस कमी के कारण कभी-कभी ठोक-पीट कर मैंने दो एक वर्ण-वृत्त लिख लिये किन्तु मात्रिक छन्द नही लिख सका। चार छः गद्य काव्य अवश्य लिखे है किन्तु वे मेरे जीवन की अव्यवस्था के कारण संग्रहीत नहीं हो सके है।

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तौ तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छन्द अरथ अनूप जामे लहिए।

ठोक-पीट कर लेखक-राज

३

मेरी कलम का राज

यद्यपि मुझे माता शारदा से इस बात की शिकायत नहीं कि उन्होंने मेरे साथ सौतेले पुत्र का वर्ताव किया; 'कुपुत्रो जायते कचिदपि कुमाता न भवति,' तथापि मै इतना बड़ा आदमी नहीं कि बहुत से कलाकारो की भाँति कह सकूँ कि मेरी कविता का सबसे बड़ा राज यह है कि उसमें कोई राज नही है। कलम में कोई राज न होना सरस्वती देवी की विशेष कृपा का फल होता है। वह कृपा शायद इसीलिए न हो सकी कि मेरे पास उनके हंस को खुश करने के लिए मोती न थे और मैने कहीं मूर्खता-वश पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के उस लेख की प्रशंसा कर दी थी कि जिसमे उन्होने सिद्ध किया था कि नीर-क्षीर अलग करने की बात चाहे कवि-'कल्पना'-लोक मे सत्य हो किन्तु वास्तविक जगत् मे ठीक नही है। फिर सरस्वती देवी की कैसे कृपा होती, क्योकि देवता लोग भी आजकल के नेताओ और अफसरों की भाँति वाहनाधीन है। 'वाहनाधीनं जगत्सर्वं,' अस्तु मुझे इतनी ही कृपा से सन्तोष है, क्योकि जो कुछ मै कर सका हूँ वह भी उनके अनुग्रह का ही फल है।

आपने मुझ से मेरी कलम का राज पूछने की कृपा की यह बात भी पुण्यैर्विना न लभ्यते। मैने पढ़ा बहुत थोड़ा है मुझमे इतनी चालाकी अवश्य है कि बगुला होता हुआ भी प्रायः हंसों को भी धोका दे देता हूँ। इसमे कुछ भाग्य भी सहारा देता है। हमेशा तो नही, कभी-कभी ऐसा होता है कि किताब के पन्ने पलटते-पलटते कुछ ऐसी बात मिल जाती है जिसको मै लेखक के हृदय की कुञ्जी कहता हूँ। मुझ मे इतनी सावधानी नही कि पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ूँ। संसार मे ऐसी थोड़ी ही पुस्तको को गौरव मिला है जिनको मैने, अथ से इति तक पढ़ा हो। जब तक लेखक के हृदय की कुञ्जी नही मिलती तब तक मै परेशान-सा भी रहता हूँ और मुझे समय के अपव्यय पर झूँझल आने लगती है।

संक्षेप मे यह कह सकता हूँ कि मुझे चोरी की कला आ गई है। मुझे दूसरो की कृतियो मे बिना ताला तोड़े या एक्स-रे का प्रयोग किये ही रत्न मिल जाते है। रत्न अपने ही प्रकाश से प्रकट हो जाते है। उन रत्नो को मै वैसा ही बाजार मे नहीं ले जाता, उनको थोड़ा-बहुत गढ़ता हूँ जिससे पहचान में न आवे और सम्भव है कि वे इस प्रयत्न मे थोड़े-बहुत विकृत भी हो जाते हों लेकिन मेरी चोरी आज तक पकड़ी नही गई। बस मेरे जीवन की यही सफलता है। संस्कृत में चोरी कला के कई ग्रन्थ है—ऐसा मैने सुना है। पढ़ा तो है मैने केवल मृच्छकटिक नाटक मे 'शर्विलक' चोर की कला का हाल। डीक्विन्सी De Quincey या और किसी विदेशी लेखक ने अपने Murder as a Fine Art नाम के निबन्ध मे हत्या को कला का रूप दिया है। बिना किसी चोरी के कोर्स को लिए, और बिना कन्सेश रेट की पाँच गिनी खर्च किये, तथा बिना भगवान स्वामिकार्तिकेय को, जो चोरो के आराध्य देव है, खुश किये, मैंने चोरी के मूल सूत्र जान लिये है। वे इस प्रकार है (१) माल की थांग लगाना (२) मालिक

को बिना जगाये माल को हथियाना। (२) हथियाये हुए माल का रूप बदल कर उसे बाजार मे चला देना—यद्यपि ये बातें देखने मे सरल प्रतीत होती है तथापि ये भी 'अभ्यासेन तु कौन्तेय परिप्रश्नेन सेवया' ही सिद्ध हो सकती हैं। पूर्वजो के पुण्य प्रताप से मुझे यह विद्या सिद्ध हो गई है।

अगर अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना बुरा न समझा जाय तो मै कह सकता हूँ कि मेरी रचनाओ मे तार्किक क्रम अधिक रहता है। यह मेरे दार्शनिक संस्कारो का फल है। इसी दार्शनिकता के कारण मेरी रचनाओ मे अनावश्यक बाते नही आने पाती। मै अपनी अल्पज्ञता के कारण अपने लेख को अधिक पाण्डित्यपूर्ण भी नही बना सकता। इसलिए साधारण बुद्धिवाले लोगो मे मेरी कलम का मान है। भाषा मे आडम्बर की मात्रा बहुत कम रहती है, हाँ अगर हास्य का पुट देना हो तो बात दूसरी है। अब मै प्रायः गम्भीर बातो मे भी हास्य का समावेश करने लगा हूँ। जहाँ हास्य के कारण अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना हो अथवा अत्यन्त करुण प्रसङ्ग हो तो मै हास्य से बचूँगा अन्यथा मै प्रसङ्गागत हास्य का उतना ही स्वागत करता हूँ जितना कि कृपण क्या कोई भी, अनायास आये हुए धन का और मुझे हास्य का एक पुट देने मे उतनी ही प्रसन्नता होती है जितनी कि प्राचीन समय के सूत्रकारो को एक अक्षर या मात्रा के बचाने मे। हां इतना अवश्य है कि उन लोगों ने जो प्रसन्नता का परिमाण रक्खा था वह (यानी पुत्र-जन्म) आज कल सन्तान-निरोध के दिनो मे विशेष सार्थकता नही रखता।

हास्य का पुट देने के लिए मुझे विशेप प्रयत्न तो नही करना पड़ता किन्तु अब मै अपने हास्य की टेकनीक समझ-सा गया हूँ और कभी-कभी उसे सप्रयत्न भी उपस्थित कर सकता हूँ। मेरे हास्य मे खास बात यह है कि मै कहावतो और संस्कृत के

अवतरणों मे अपने मतलब के अनुकूल हेर-फेर कर एक सुखद परिवर्तन पैदा कर देता हूँ, जैसे रघुवंशियो के लिए कालिदास ने कहा है : 'योगेनान्ते तनुःत्यजाम्'। मैंने आजकल के लोगों के लिए कह दिया, रोगेणान्ते तनुः त्यजाम्। कभी द्वयर्थक शब्दों से भी हास्य की झलक ला देता हूँ। जो कुछ (रुपया) जमा था वह अब खेत मे जमा है। कभी मुहावरो के लाक्षणिक अर्थ को अभिधा के ही अर्थ मे व्यवहृत कर चमत्कार उत्पन्न कर देता हूँ, जैसे अधिक वर्षा के कारण मेरा बगीचा नष्ट हो गया तो मैंने लिखा कि मेरी मेहनत पर पानी पड़ गया, और जब पपीते मे फल हुआ तो मैंने लिखा कि मेरी मेहनत सफल हो गई। मेरी काशीफल की बेल मे फल नही आये तो मैंने गीता का वाक्य लिख दिया 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' कभी-कभी प्राचीन कथाओं का भी प्रयोग कर देता हूँ। मेरे हास्य मे साहित्यिकता अधिक रहती है। धौलधप्पा और गिरने-पड़ने और घसीटने वाली हास्यमय परिस्थितियो के उत्पन्न करने में मै असफल रहता हूँ। उर्दू-फारसी के शब्द और मुहावरे भी कभी-कभी पूर्वजन्म मे किये हुए पुण्य की भांति सहायक होते हैं; क्योंकि फारसी का अध्ययन छोड़े प्रायः एक युग हो गया। हास्य का मूल रहस्य है बेमेल बातो का मिलाना, जैसे कहाँ पूर्व जन्म के पुण्य और कहाँ स्कूल मे पढ़ी हुई फारसी-उर्दू ?

मै लिखता तो बिना बिचारे ही हूँ, कभी-कभी पछताना भी पड़ता है लेकिन बहुत कम। लेख के प्रारम्भ मे थोड़ा अवश्य परिश्रम कर लेता हूँ। मेरे लेख मे काट-छाँट और घटा बढ़ी भी होती है बीच मे से ऐरो (Arrow) लगाकर जोड़ा भी अधिक जाता है; इस कारण अक्षर-ब्रह्म को उँगलियों पर नचाने वाले कम्पोजीटर लोग मेरे लेखो से बहुत परेशान रहते है। मैंने उन लोगो की प्रसन्नता के लिए एक स्तोत्र भी लिखा है। बीच में

ऐरो लगाकर बढ़ाने का कारण है। संगति ठाने के लिए, पीछे से ध्यान मे आये हुए वाक्य को यथास्थान ही रखना चाहता हूँ। बिना काटे मैने वहुत कम लिखा है, फिर भी उसमे गलती रह जाती है। वे गलतियाँ कभी तो मेरी ही होती है और कभी उनके लिए प्रेस के भूत वलिदान के बकरे बना दिये जाते है। जहाँ प्रेस के भूतो की वास्तविक गलती होती है वहाँ मुझे झूँझल आती है। फिर यही सोचकर रह जाता हूँ कि कभी अपनी भूल को उनके सर मढ़ देता हूँ तो उनकी भूल को अपने ऊपर क्यों न लूँ ? 'कभी लढी नाव पर और कभी नाव लढी पर।' मेरी प्रेस कापी दूसरो की रफ कापी को भी लज्जित करती है। सफे अस्त-व्यस्त होने के कारण खो भी जाते है। यह जानकर संतोष होता है कि भगवान पातञ्जलि के महाभाष्य के पन्ने जो कि पीपल के पत्तो पर लिखे हुए थे, बकरी चर गई थी। उनके सामने मेरी पुस्तको की क्या गणना ?

मेरी शैली मे वहुत से दोप है जो कभी-कभी उसके गुणो को दबा लेते हैं। मै अपनी भाषा को आडम्बर-पूर्ण बनाने से बचाता हूँ। लेकिन सरल भापा को गौरवशालिनी बनाना मुझे नहीं आता। इसी कारण मेरी भाषा मे शैथिल्य आ जाता है। कभी-कभी पुनरुक्ति दोष से भी दूषित हो जाती है। क्योंकि पुनरुक्ति के भय से मै रामनाम भी कम लेता हूँ फिर भी पुनरुक्ति से बचता नही। चाहिये, चाहिये लगातार कई वाक्यो मे चले आते है। अब तो चाहिए के स्थान मे वांछनीय आवश्यक आदि लिखकर एकतानता को बचा जाता हूँ। ऐसे बहुत से दोष होते हुए भी लोगो ने मेरे लेखो को पढ़ने योग्य समझा है। इसका यही कारण है कि मै कहने के लिए कुछ तथ्य की बात खोजता हूँ और उसे येन-केन प्रकारेण पूर्णतया हृदयङ्गम कराने का प्रयत्न करता हूँ। उसमें हास्य का पुट देकर उसे ग्राह्य बना देता हूँ। यही मेरी कलम का राज है।

परिशिष्ट १

(चोरी : कला के रूप में)

नाम बुरो पै अधीन न काहू के, चोरी भली न भली सेवकाई।
द्रोण के पुत्र युधिष्ठिर सेन के, मारन के हित सेंध लगाई॥

जब मैं एम० ए० मे पढ़ता था उस समय मेरा विषय तो दर्शन-शास्त्र था लेकिन जौक या गालिब की शराब की भाँति गाहे-गाहे (कभी-कभी) मुँह का जायका बदलने के लिए या यों कहूँ कि मस्तिष्क को काण्ट के क्रिटीक से, जिसका अध्ययन लोहे के चने चबाने से कुछ कम न था, विश्राम देने के लिए माँगी हुई या कवाड़िये से खरीदी हुई अँगरेजी साहित्य की पुस्तको मे चञ्चु-प्रहार कर लेता था। ऐसी ही किसी किताब मे डी क्विन्सी का Murder as a fine art शीर्षक लेख जिसमें हत्या को कला का रूप दिया गया था मेरी निगाह से गुजरा। उसकी भाषा राजपथ की भाँति सुगम न थी, इस कारण किसी फुर्सत के दिन के लिए उसे चलतू खाते से बाहर उन पुस्तकों के साथ, जो बिचारी अलमारी मे पड़ी-पड़ी मेरी सुदृष्टि की बाट जोहा करती थी, रख दिया। किन्तु उस पुस्तक के सम्बन्ध मे कान पर जूँ तक न रेगा। जूँ रेंगता भी क्यो ? ईश्वर की कृपा

से धनी न होता हुआ भी मुझमे धनियों का विशेष गुण मौजूद था 'कचित खल्वाट् निर्धनी'। पं० रामनरेश त्रिपाठीजी के मत से यह गुण बाबा तुलसीदासजी मे भी था क्योंकि उन्होने कही लिखा है कि पितरों के पिण्डो के साथ ऊनके स्थान मे रखने के लिए सर में बाल भी नही है। वैसे तो तुलसीदासजी अपनी दीनता दिखाने मे ऐसी दून की हॉका ही करते है किन्तु मुझे सन्तोष है कि कम से कम एक बात मे तो उनकी बराबरी कर सकूँगा।

इस विषयान्तर को क्षमा कीजिए क्योंकि तुलसीदासजो की बराबरी करने का मोह संवरण न कर सका। अस्तु वह लेख पढ़ा तो नहीं लेकिन उसके शीर्षक ने मेरे हृदय मे स्थान पा लिया उस समय मै चोरी की कला मे बहुत प्रवीण तो न था लेकिन मन मे इरादा यह कर लिया कि इसका कभी लाभ उठाऊँगा। उसको जैसे के तैसे हथियाने मे चोरी सहज मे प्रकट होने का भय तो था ही किन्तु एक और आपत्ति थी। मै हिन्दू हूँ हिंसया दूयतेऽति हिन्दू' इसके अतिरिक्त मेरे पूज्य पिताजी ने वैष्णव धर्म की कुछ मूल शिक्षाओं को मेरे मस्तिष्क मे चीनी औषधि के विज्ञापन की भॉति कील ठोक-ठोक कर भर दिया था। फिर 'अहिंसा परमोधर्म.' मानने वाले जैनियो के सत्सग से वह शिक्षा उसी प्रकार पक्की हो गई जैसी हाइपो सोल्यूशन मे पड़कर फोटो-ग्राफी की नेगेटिव प्लेट। 'करेले और नीम चढ़े' की सी बात से भी ज्यादा हो गई। बनिया और हत्या को कला का रूप दे, राम, राम ! सारी आत्मा विद्रोह करने लगी, चित्तचोर और माखन-चोर भगवान श्रीकृष्ण की जिनको विष्णु सहस्र नाम मे 'चोर-जारशिरोमणि' कहा है, भक्ति के कारण मुझे चोरी को कला का रूप देना कुछ अपेक्षाकृत निरापद जॅचा क्योंकि धन की चोरी तो शायद नही विचारों की चोरी किया ही करता हूँ।

यदि किसी को जेल जाने की सामर्थ्य हो तो चोरी के बराबर कोई दूसरा पेशा नही क्योंकि इसमे सरकार की भी मदद रहती है, वह हमेशा जेल भेजकर प्रतिद्वन्द्वियो को कम करती रहती है। वकालत की तरह यह पेशा कभी अति भीड़ over Crowedness) के रोग से ग्रसित नही होता।

इसमे प्रचण्ड मार्तण्ड की प्रखर रश्मियो के आघात से बचे रहने मे कोई कठिनाई नहीं पड़ती। धूप से रंग काला पड जाने का भय नही रहता, अमा निशा की शीतल-मेचक छाया माता की भाँति रक्षा करती है। 'रैन मात्र सी मोहि अङ्ग लावति' और सहज मे ही संयमी का परम स्पृहनीय पद प्राप्त हो जाता है 'या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'। अगर माल हाथ लगा तो कुछ दिन मौज से खाया और यदि पकड़े गये तो सम्मानपूर्वक जेल की चहार दीवारो मे सुरक्षित रहकर मशक्कत और पसीने की कमाई खाई। वहाॅ न तो कोई जरिये माश पूॅछेगा, और न कोई भिखमंगा कहेगा। इस पेशे के लोगो को कभी दूसरो के आगे दीन होकर हाथ नही पसारना पड़ता। 'मॉगिबो भलो वाय सो जो विधि राखे टेक।' मॉगकर करे तो क्या? मॉगे से कुछ मिलता भी नही और ईमानदारी करने मे कभी-कभी ऊने के दूने देने पड़ते है। बाबा तुलसीदासजी को भी सज्जनता का कटु अनुभव हुआ होगा, तभी तो उन्होने लिखा है 'सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसत खलई है' फिर कोई ऐसे कण्टकमय मार्ग का क्यो अनुसरण करे जिसमे सीदना पड़े? चोरी की आमदनी को न इनकमटैक्स का भय और न चन्दे का।

चोरी को कला का रूप देने मे मै अकेला नही हूॅ। संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध नाटककार महाकवि शूद्रक हमलोगो का पथ-प्रदर्शन बहुत पूर्व ही कर चुके है। उन्होंने अपने मृच्छकटिक

नाटक में शर्विलक के मुख से चोरी को वास्तव मे कला का ही रूप दिखाया है। शर्विलक बड़ा कलाप्रिय है। वह सेंध लगाने में भी तो अपनी कला-प्रियता नही छोड़ता है। वह नपी-तुली ज्यामिति के आकारो की भाँति चित्रोपम सुडौल सेंध लगाता है जिससे कि सुबह के समय सेंध देखने वाले उसकी कला की प्रशंसा करे देखिए:—

"तो कहाँ से सेंध फोड़ूँ (भीत छू कर) नित सूर्यनारायण के अर्घ का पानी पड़ते-पड़ते यहाँ की मिट्टी खुद सी गई है और चूहो ने यहाँ कुछ खोद सा डाला है, अब हमारा काम सिद्ध हो गया। स्कन्द देवता के पुत्रो की सिद्धि का पहला लच्छन यही है। तो अब कैसे सेंध फोड़ूँ? कनकशक्तिजी ने चार रीतियाँ सेंध फोड़ने की कही है—पक्की ईंटो को खींच लेना, कच्ची को काट देना, गोदे को भिगो देना, और काठ को काट डालना। तो यहाँ पक्की भीत है एक ईंट हटाऊँ—

खिले कमलसम, कूप सरिस, नवचन्द्र अकारा।
स्वस्तिक, पूरनकुम्भ, सूर्य सम सन्धिप्रकारा॥
खोदि सेंधि मै प्रकट करौ अपनी चतुराई।
भोर देखि जेहि चकित होयँ सब लोग लुगाई॥"

[श्रीअवधवासी भूपकृत मृच्छकटिक नाटक के भाषानुवाद से]

चोरी मे बल और विद्या दोनों से ही काम चलता है। आजकल के चोर तो सेफ गलाने के लिए आक्सी-हाइड्रोजन-फ्लेम भी साथ ले जाते है। खैर पुराने जमाने का शर्विलक कहता है—

बल विद्या दोउ संग लगाई। तन प्रमान निज सेंध बनाई॥
सरकत चलौ घसत निज अंगा। कैचुल छाँड़त मनहुँ भुजंगा॥

यह चोर दीपक बुझाने के लिए कीड़ा साथ रखता था और

घर के लोग सोते हैं या जागते है इसकी परीक्षा इस प्रकार करता है—

'चलत बराबर साँस नहीं शङ्का कछु लागै।
मुँदी आँखि नहीं सिथिल भाव पुतरी निज त्यागै॥
ढीलो परो शरीर कछु शैया के बाहर।
दीप सहै नहि सौंह करै सोवत छल जो नर॥'

अब अपने मित्र शर्विलक की एक गर्वोक्ति भी सुन लीजिए—

'झपटा के मारन में चील्ह के समान हम,
जल्दी जल्दी भागिबे मे मृग सो न कम है।
सोये जागे चीन्ह लेत कूकुर की नाई नित,
बिल्ली के से पायँ मेरे चलत नरम है।
माया रूप धारन मे साँप से हैं सर्कन में,
देश भाषा जानन मे बानी के सम है।
संकट मे डुडुम, तुरंग है सुथल पर,
जल बीच नाव रात दीपक हू हम है।
गिरि सम थिर, भाजन भुजग, झपटन में हम बाज।
पकरन वृग, इत उत लखन शश, बलमँह मृगराज॥'

परिशिष्ट २

(कम्पोज़ीटर-स्तोत्र)

देवाधिदेव ! जिन आदि कारण-स्वरूप भगवान का कभी क्षय अर्थात् नाश नही होता, जिनके तेजोमय गर्भ से चराचर अखिल विश्व का उदय होता है और जिनके अनन्त वक्ष-स्थल मे स्थित रह कर वह प्रलय की शान्त निद्रा में मग्न हो जाता है, वे ही अक्षर ब्रह्म 'छछिया भर छाछ' के विना ही आपके अंगुल्याग्र भाग में सदा नृत्य करते रहते है। वे पूर्णतया आपके शासन में बँधे है। जब आप उन्हे उठाते है, तब वे उठते हैं, और जब और जहाँ आप बैठाते है, तब और तहाँ वे बैठ जाते है। वे आपके आदेश के विना टस-से-मस नही करते। आपके ही कारण वे फर्मे के बन्धन मे पड़ते है।

जब आप डिस्ट्रीब्यूटर (Distributer) रूप से उनको अपने कर-पल्लव मे धारण कर 'गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ स्वस्थाने सुखी भव' का मन्त्र पाठ करते है, तब वे अक्षर भगवान प्रसन्नता-पूर्वक कबूतरखाने से केस के खानो मे अपने-अपने स्थान को प्राप्त हो विराजमान हो जाते है। धन्य है आपका प्रभावपूर्ण शासन ! धन्य है आपका विश्वव्यापी आतंक ! वैसे तो क्षीरसागर

भी आपके कर-नखाग्रो से सदा प्रवाहित होता रहता है (क्योंकि संसार में बेपढ़ो की संख्या बहुत है, और उनमे से प्रत्येक के लिए प्रत्येक काला अक्षर भैंस के बराबर होता है), तथापि आपके कर-पल्लवो में नृत्य करने वाले अक्षर भगवान घोर तप के कारण शेष-शय्या के स्थान मे अव्यक्त रूप से तप्त सीसा (Lead) शय्या पर शयन करते हैं। वे व्यक्त होकर 'नियतिकृतनियम-रहितां' ब्रह्मा की सृष्टि के नियमो से परे रहने वाली रुचिर रचनाओं की सृष्टि करने लग जाते है। आपकी रची हुई सृष्टि, ब्रह्मा की सृष्टि का शासन करती है। विचारो से ही संसार चलता है, और आपके बिना बेचारे विचार मूक और पंगु पड़े रह जाते है।

विश्व-सूत्राधार! विश्व का शासन आप ही के वश मे है। विश्व की राजनीति और धर्मनीति समाचार-पत्रो और धर्म-ग्रन्थों के अधीन है, और वे सब आपके अधीन हैं। तस्मात् कम्पोज़ी-टराधीनं जगत्। अतः विश्व-शासक जगत्-नियन्ता, राष्ट्रों के विधायक, धर्म के रक्षक और पोषक आपको शतशः सहस्रशः लक्षशः कोटिशः नमस्कार है।

भगवन्, आप भुवनभास्कर सूर्यरूप है! नही, नही, आपका कार्य सूर्य से कही अधिक बढ़कर है! 'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि', और आप उस कवि के भी हृदय-कुहर की गुप्तातिगुप्त भावनाओ को प्रकाश मे लाते है। भगवान मरीचिमालिन सूर्यदेव के पार्थिव अवतार प्रकाशकगण बड़े दैन्य भाव से आपका मुख जोहते रहते है। वे आपकी फुर्सत की सदा प्रतीक्षा करते है। आपके आगे मैनेजर का ज़र और एडीटर की टरटर कुछ नही चलती। आपके हाथ-पैर चलाने से ही सबका काम चालू होता है।

प्रभो! बिना आपकी कृपा-कटाक्ष के स्वयं हंसवाहिनी

सरस्वती के वात्सल्य भाजन मूक बने रहते हैं। मूक को आप वाचाल बनाते हैं, आप ही कृपा के बल पर साधारण प्रतिभा वाले भी प्रोपेगेण्डा की नसैनी लगा कर यश के उच्चतम शिखिर पर पहुँच जाते हैं और आपका प्रेस न जाने कितने दोषियों को निर्दोष बना देता है।

मूक होहि वाचाल पगु चढ़ै गिरिवर गहन,
जासु कृपा सु दयाल, द्रवौ सकल कलिमल दहन।

आप ही वीणापुस्तकधारिणी भगवती शारदा की वीणा के तारो को मुखरित और झंकरित करते है। आप ही अपने विशाल विद्युत्विनिन्दित क्षिप्र और चचल कर-पुटो द्वारा देश-विदेश मे वाग्देवी का विस्तृत साम्राज्य स्थापित कर देते हैं। आपके कर-पल्लवो से निकली हुई बात पत्थर की लकीर से भी दृढ़ हो जाती है। वह ब्रह्माक्षरो की भाँति अमिट होकर आप्त प्रमाण की श्रेणी परिगणित होता है।

दयानिधे! आप लेखको के जीवन-प्राण हैं। आप उनके एकमात्र त्राण, शरण्य और वरेण्य है। आप प्रेस के भूत का लोकोपकारी स्वरूप धारण कर लेखको के लेख-सम्बन्धी ज्ञान से किये हुए, अथवा अज्ञान से किये हुए समस्त पापो को अपने सुविशाल स्कन्धों पर धारण कर उनको व्याकरण की हत्या के अपवाद से मुक्त कर देते है। आप अपने प्रेस की अमिट कालिमा से लेखको का मुख उज्वल कर देते हैं। अपने बलिदान से दूसरो का भार हलका करना इसी को कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी दिव्य दृष्टि से आप ही को लक्ष्य कर नीचे की चौपाइयाँ लिखी थी—

साधु चरित शुभ सरिस कपासू। निरस विशद गुणमय फल जासू॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा। वंदनीय जेहि जग यश गावा॥

भक्तवत्सल! आपके कहाँ तक गुण गाऊँ? आप ही लक्ष्मी

और सरस्वती का वैमनस्य थोड़े-बहुत अंश मे दूर कर देते हैं। आपके अप्रतिम आतंकवश वे अपने स्वाभाविक विरोध को भूल जाती हैं।

योगिराज ! आप वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्म की भाँति संसार के मूल कारण होते हुए भी सदा निर्लिप्त और अविकृत रहते है। आप पद्मपत्रमिवाम्भसि' (जल में कमल के पत्ते) की उक्ति को पूर्णतया चरितार्थ करते है, संसार के लड़ाई-झगड़े, शुभ और अशुभ संवाद, प्रेमलाप और तीव्राति तीव्र व्यंगवाण, पण्डितो का पांडित्य और मूर्खों का मूर्खत्व आपकी अनन्त शान्ति को विचलित नही कर सकता। सब कुछ आपके करतलगत हो जाने पर भी आप जैसे के तैसे शुद्ध-निर्लिप्त बने रहते है। आप शान्ति के स्वरूप और उदासीनता के अवतार है। आपके निरपेक्ष स्वरूप को बारम्बार नमस्कार है।

भगवन् ! आपकी सीसे से सुदृढ़ गुणगरिमा का कहाँ तक गान करूँ ? आपके कर-पल्लवो से जितने समाचार-पत्र, पुस्तकें, पुस्तिकाएँ, विज्ञापनादि निकले होगे, वे कई बार पृथिवी को आवेष्टित कर लेगे। वे सब अनन्त जिह्वा होकर उच्च स्वर से आपका गुणगान गाते है। वास्तव मे आपका कीर्ति-पत्र उर्वी (पृथिवी) से कई गुना विस्तृत है, और उसे स्वयं शारदा माता कल्पना के कल्पतरु की लेखनी द्वारा लिखती रहती है, 'तदपि तवगुणानांमीश पारं न याति'।

देवेश ! यह तुच्छ जीव आपसे क्या माँगे, यदि आप प्रसन्न होकर मुझे कुछ वर देना ही चाहते है, तो उदारतापूर्वक यह वर दीजिए कि जो कोई समाहित चित्त होकर मेरे बनाये हुए स्तोत्र को दिन में एक बार भी पाठ किया करेगा, उसको तीनो काल मे समालोचको की बाधा न व्यापेगी। ओ३म् शान्ति शान्तिः शान्तिः।